आँचलिक उपन्यास : सम्वेदना और शिल्प

आँचलिक उपन्यास

(संवेदना और शिल्प)

डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त

अभिनव प्रकाशन

सहधर्मिणी मीना, पुत्र रानू और टीटू को

भूमिका

उपन्यास आज की सर्वाधिक जनप्रिय विधा है, जिसे केन्द्रीय विधा की संज्ञा भी दी जा सकती है। आँचलिक उपन्यास औपन्यासिक सर्जन-यात्रा का संभावनापूर्ण प्रारम्भ एवं नया मोड़ है, जो आजादी के बाद आया। यह मोड़ मुख्यतः तीन दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। नयी संवेदना की दृष्टि से, नयी औपन्यासिक संरचना की दृष्टि से एवं लोकभाषा के सर्जनात्मक उपयोग की दृष्टि से। आँचलिक उपन्यास नयी विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं—जिन्होंने विशिष्ट एवं सामान्य विभिन्न ग्रामों, वन्य प्रदेशों, दूरवर्ती अंचलों की अनुभव-यात्रा प्रस्तुत कर वहाँ के जीवन्त परिवेश, टूटते-दरकते संबंधों, बनते-बिगड़ते मूल्यों, विविध अन्त-विरोधों, अन्तर्बाह्य दबावों एवं नाना विसंगतियों से साक्षात्कार कर उन्हें नये अन्दाज से अभिव्यक्ति प्रदान की है। परिस्थितिगत जटिल यथार्थ एवं उससे उत्पन्न नयी मानसिकता की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हेतु औपन्यासिक शिल्प का बदलाव स्वाभाविक है। इस बदलाव के क्रम में आँचलिक उपन्यासकारों ने अभिव्यक्ति के सबसे बड़े स्रोत लोकभाषाओं से अभीप्सित शब्दावली, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, लोकगीत एवं लय और लहजे को ग्रहण कर नये-नये सर्जनात्मक प्रयोग किये। इस प्रकार एक तरह से कहा जा सकता है कि संवेदना और शिल्प के स्तर पर रचनात्मकता के नये आयाम इन उपन्यासों में उद्घाटित हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने अध्ययन के लिए इस नयी विधा के केवल दस विशिष्ट उपन्यासों का चयन किया है और उनके बीच से गुजर कर उन्हें पहचानने का प्रयत्न किया है। यह पहचान कृतियों के अन्तर्गत उठाये गये प्रश्नों, समस्याओं, संभावनाओं, समय-संदर्भ से जुड़ी नयी चुनौतियों, विविध विसंगतियों, वैचारिक दृष्टियों एवं अनुभवजन्य निर्मम सच्चाइयों तथा रूपबन्ध की विभिन्न भंगिमाओं पर आधारित है। कृति की अन्तश्चेतना तक पहुँचना, उसके विभिन्न मोड़ों को पहचानना एवं उसकी कलात्मक छवियों को उजागर करना मेरा अभीष्ट रहा है। अपने इस प्रयत्न में मैं कहाँ तक सफल रहा हूँ इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे।

अन्त में विभागाध्यक्ष डा० विजयेन्द्र स्नातक एवं प्रोफेसर डा० उदयभानुसिंह के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी कृपा के कारण लिखने की स्थिति में पहुँचा हूँ। डा० रामदरश मिश्र को धन्यवाद किन शब्दों में दूँ जिनका घंटों अमूल्य समय बिगाड़कर अपनी जिज्ञासायें शान्त की है। मान्य बंधुवर डा० सन्तराम 'अनिल' एवं साथी श्री राजकुमार जैन को भी धन्यवाद देता हूँ जिनसे बीच-बीच में सलाह-मशविरा किया है। और अन्त में प्रकाशक बन्धु श्री रणवीरसिंह चौहान को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता से इस पुस्तक का प्रकाशन किया है।

हिन्दी विभाग,
रामजस कॉलिज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

—ज्ञानचन्द गुप्त

अनुक्रमणिका

आँचलिक उपन्यास

आँचलिक उपन्यास स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य का एक नव्य प्रयोग एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसने साहित्य को गतिशील एवं समृद्ध किया है। इसके पीछे मूल प्रवृत्ति राष्ट्र एवं समाज की सांस्कृतिक मर्यादा का अन्वेषण रहा है। आँचलिक उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास-शिल्प को नए सन्दर्भ दिये तथा गतिशील परिप्रेक्ष्य में अंचल-विशेष की समग्र विशेषताओं के प्रस्तुतीकरण में अनुभूति-परक गहनता एवं समाज-सापेक्ष दृष्टि से उपेक्षित ग्राम-जीवन को उसके यथार्थ परिवेश में देखने-समझने एवं समझाने का तटस्थ प्रयास किया है। इन कृतियों के माध्यम से कृतिकारों ने विशिष्ट भूखण्डों की ज्वलन्त समस्यायें, उनके पारस्परिक अन्तर्विरोध, जीवन-संघर्ष, पारस्परिक बदलाव, नये संबंध-बोध, मूल्य विघटन आदि को प्रामाणिक सन्दर्भों में उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। यों तो ग्राम-जीवन की पहचान प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी प्रस्तुत हुई थी लेकिन जिस विशिष्टता के साथ समस्त बारीकियों को लिए एक ग्राम विशेष या भूखण्ड विशेष इन उपन्यासों में प्रस्तुत हुए वे निश्चय ही अलग थे और उनका कलात्मक प्रदेय नये नामकरण से ही पहचाना जा सकता था। डा० नन्द दुलारे वाजपेयी ने औपन्यासिक ठहराव के विषय में ठीक ही तो कहा है, "इधर उपन्यास की विषयवस्तु और लेखन-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता तथा गतिहीनता की स्थिति को देखकर कुछ लेखकों ने अपने लेखन की पुरानी परिपाटी बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण रीतिनीति वाली जातियों और स्थितियों के चित्रण को अपनाया।"[1] इन उपन्यासों की वस्तुन्मुखी दृष्टि एवं शैलीगत नव्यता के कारण इन्हें प्राचीनधारा से सरलता से अलगाया जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास की आँचलिकता[2] की प्रवृत्ति उसकी अपनी प्रवृत्ति है, जिसका नामकरण एवं प्रारंभ करने का महत्त्व फणीश्वर नाथ 'रेणु' और उनके 'मैला आँचल' को है। पूर्ववर्ती साहित्य में इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति यत्किंचित् द्रष्टव्य है, क्योंकि कोई प्रवृत्ति अकस्मात् जन्म नहीं ले लेती। डा० प्रताप नारायण टंडन आंचलिकता

---

१. डा० नन्ददुलारे वाजपेयी : सम्पादकीय लेख, आलोचना, १९५७।

२. "कुछ लोगों की वह प्रवृत्ति-विशेष जिसके अन्तर्गत उनकी कृतियों की पृष्ठभूमि में राष्ट्र का कोई अंचल विशेष रहता है, जिसका विस्तृत वर्णन उनके निवासियों के जीवन और व्यवसाय-व्यवहार आदि के समेत उसमें समाविष्ट रहता है।" (मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड)

का प्रारंभ आचार्य शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' (१९२६) से मानते है, तो डा० सत्यपाल चुघ की मान्यता है कि 'इस प्रवृत्ति का प्रारंभ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के 'बिल्लेसुर बकरिहा' उपन्यास से माना जाय।' इस उपन्यास में अवध प्रान्त के ग्रामीण जीवन, वहाँ की सामाजिक मान्यताओं तथा रूढ़ियों की पर्तों से घिरी जिन्दगी का इतिवृत्त है। डा० बदरीदास ने अपने शोध-प्रबंध मे आंचलिकता की खोज और दूर जाकर की है तथा उन्होंने चार-पाँच दशक पूर्व की रचित कृतियों को आंचलिक करार दिया है। इनकी स्थापनाओं के अनुसार मन्नन द्विवेदी कृत 'रामलाल' (१९१४) उपन्यास सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जिसके अन्तर्गत गोरखपुर की बाँस-गाँव तहसील के एक गाँव की विभिन्न स्थितियों का उरेहण रिपोर्ताज शैली में प्रस्तुत किया गया है। अतः इस प्रकार उपन्यासो मे तत्वान्वेषण किया जा सकता है तथा अध्ययनगत पूर्णता एवं विविधता लाने के लिए हिन्दीतर भाषाओं और विदेशी भाषाओं में भी इसे खोजा जा सकता है। साम्य ढूँढे जा सकते हैं, लेकिन यूरोपीय साहित्य मे प्राप्त 'क्षेत्रीय उपन्यासों' या स्थानीय रंग वाले उपन्यासो को ही हिन्दी की आंचलिकता का स्रोत और आधार नही माना जा सकता। निश्चय ही यह एक अविवेकपूर्ण दुराग्रह है जिसे पश्चिमी अंधानुकरण या उस दासत्वपूर्ण हीनभावना का प्रतिफलन कहा जा सकता है, जिसे अपनी कोई वस्तु बढ़िया दृष्टिगत नही होती।

वास्तविकता यह है कि यूरोपीय एवं हिन्दी आंचलिक उपन्यासों के जन्म की परिस्थितियों मे काफी साम्य है। दोनों का जन्म कृत्रिमता एवं शहरी बासीपन से ऊब कर हुआ है। "उपन्यास का इतिहास साक्षी है कि जब यूरोप मे नागरिक जीवन का चित्रण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तब पाठको को उसमें बासीपन दिखाई देने लगा। परिणामस्वरूप एशिया और अफ्रीका की जातियों को लेकर उपन्यास लिखे गये। ऐसे उपन्यास यूरोपीय पाठको को अवरुद्ध वातावरण मे आने वाली ताजी हवा के झोके के समान प्रतीत हुए।"[1] हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो के विषय में भी लगभग ऐसा ही अभिमत प्रकट किया है, "जब सामाजिक उपन्यास मे नागरिक जीवन को चित्रित करते-करते उपन्यासकार थक गये और जब पाठको का समुदाय उन घिसे-पिटे और अंशतः रूढ़ नागरिक चित्रणो से ऊब उठा तब नये अज्ञात जीवन और दूरवर्ती प्रदेशो के अपरिचित क्षेत्रो से सबधित उपन्यास लिखे गये। इसलिए ये उपन्यास विशेष सामान्य नागरिक जीवन या नागरिक जीवन की प्रतिच्छवि नही बनना चाहते।"[2]

आंचलिक शब्द 'अंचल मे 'इक' प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है अंचल सबंधी। अचल सज्ञा शब्द से विशेषण बन गया जिसके संस्कृत मे विभिन्न अर्थ हैं। साड़ी का छोर, पल्ला आदि अर्थों के अलावा हिन्दी मे अचल का सीधा और स्पष्ट अर्थ है 'जनपद' या 'क्षेत्र' जो अपने मे एक पूर्ण भौगोलिक इकाई होता

१. डॉ० आदर्श सक्सेना : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि, पृ० २७।
२. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १९७।

है। उस अंचल-विशेष के अपने रीति-रिवाज, अपने सुख-दुःख, अपनी जीवन-प्रणाली, अपनी परंपराएँ एवं मान्यताएँ होती हैं, जिनसे वह गतिशील रहता है। गतिशीलता के एवं वहाँ की जड़ता के विविध एवं बहुआयामी संदर्भों के समग्र अंकन में ही आंचलिक उपन्यास की शक्ति और सीमा निहित है। अतः आंचलिक उपन्यास एक सीमित अंचल या क्षेत्र विशेष के सर्वांगीण जीवन को जिसमें वहाँ के साधारण-असाधारण विवरण, परिचित-अपरिचित भूमियों का उद्घाटन, विविध छवियों-कुछवियों का अंकन आदि निहित होता है, वस्तु-मुखी दृष्टि से रूपायित करता है तथा इसमें रचनाशीलता का नया आग्रह एवं लोकधर्मी भाषा, बोली उपबोलियों की भी विविध भंगिमाएँ निहित होती हैं। अतः यह कहना उचित है कि "आंचलिक उपन्यासों ने अनुभवहीन सामान्य या विराट् के पीछे न दौड़कर अनुभव की सीमा में आने वाले अंचल विशेष को उपन्यास का क्षेत्र बनाया है।"[1]

आंचलिक उपन्यासों के विषय-क्षेत्र को लेकर कुछ विवादास्पद-सी स्थिति आज भी है। एक वर्ग शहरी मुहल्ले या कस्बों के जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासों को भी आंचलिक कहने का आग्रही है, जबकि दूसरा वर्ग ग्राम एवं विशिष्ट अंचलों को ही इन उपन्यासों का विषय-क्षेत्र मानता है। पहले वर्ग में राजेन्द्र अवस्थी, कान्तिवर्मा, महेन्द्र चतुर्वेदी, सुरेश सिनहा आदि का नाम प्रमुख है जबकि दूसरे वर्ग में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० धनंजय वर्मा, डा० रामदरश मिश्र, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० हरदयाल एवं डा० विवेकीराय आदि के नाम उल्लेख्य हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आंचलिकता में नगर की खींचतान व्यर्थ है। आंचलिक जीवन मुख्यतः ग्रामीण ही होता है और आंचलिक उपन्यास इस स्थानिक यथार्थ की सघनता एवं समग्रता के साथ अनुभव की प्रामाणिकता को लेकर प्रस्तुत हुए हैं।

आंचलिकता कुछ लोगों का फैशन है जिनमें राजेन्द्र अवस्थी का नाम लिया जा सकता है। मसीहापन की होड़ में लिखे उनके उपन्यास इसके उदाहरण हैं जिनमें आंचलिकता के सायास दर्शन होते हैं। विविध प्रदेशों में घूमकर वहाँ की बोलियों-उपबोलियों से एकत्रित शब्द जब उपन्यास में ठूँस दिये जाते हैं तो वे कृति में रचपच नहीं पाते और कृति के समग्र प्रभाव को तोड़ते दृष्टिगत होते हैं। नये संदर्भों में अंचल को नयी और विस्तृत दृष्टि से देखने वाले, अवस्थी जी ने 'श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ' संग्रह निकाला है, एक कहानी एक अंचल विशेष की कितनी विशिष्टताओं को अपने अंचल में समा सकेगी यह एक अलग ही प्रश्न है? उनमें उस अंचल विशेष की समग्रता कैसे उभरेगी, क्योंकि कहानी का परिसर तो सीमित और एक घटना-विशेष तक ही होता है। खैर! लगता है सामाजिक उपन्यास एवं आंचलिक उपन्यासों के विशिष्ट अलगाव बिन्दुओं पर आलोचक कुछ गहरे नहीं उतरे हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मत बड़ा ही अकाट्य है तथा उससे पूर्ण सहमति है कि, "नागरिक जीवन के चित्र तो प्रभागत सामाजिक उपन्यासों में रहते ही हैं, यदि आंचलिक

1. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, पृ० १८७।

उपन्यासो में यही वस्तु रगी जायगी तो इस नई उपन्यासविधा की विशेषता क्या होगी ? प्रश्न विधा का नही परम्परा का भी है। आंचलिक उपन्यास वस्तुतः सामाजिक उपन्यासो की प्रतिक्रिया मे नही, बल्कि विद्रोह मे निर्मित हुए हैं।"[1]

अत. यह आवश्यक है कि विभिन्न पूर्वाग्रहो एव दुराग्रहो से मुक्त हो, आंचलिक उपन्यास को स्वातन्त्र्योत्तर भारत की प्रमुख विधा के रूप मे देखा जाय, जिसने ग्राम एव दूरस्थ अचलो की सस्कृतियो के समग्र उद्घाटन को वरीयता प्रदान की है। इन कृतियो मे एक नवीन चेतना की लहर है जिसने परिवेश के फूल और शूल, चन्दन और धूल, सहजता-असहजता, सुन्दरता-असुन्दरता आदि सभी के जटिलतापूर्ण चित्र प्रस्तुत किए। जटिलताएँ स्वाभाविक हैं। "प्रत्येक भूभाग की मिट्टी की एक खास महँक होती है और उस मिट्टी से पनपी हुई वनस्पतियो के पत्ते-पत्ते और फूल-फूल मे एक विशेष गध होती है। उसी के अनुरूप वहाँ के समस्त जीवधारियो, मानव-प्राणियो मे भी अपनी एक अलग मन स्थिति या गध होती है जो किसी अन्य भू-भाग मे उगे हुए फूल, पत्तो और प्राणियो की गध से भिन्न होने के कारण अपनी एक विशिष्टता रखती है। यह गध उस देश के निवासियो की भाषा, आचार-विचार तथा मानसिकता मे प्रतिबिम्बित होती है।"[2] कुछ कलात्मक एकरूपता देखकर उन नगर-परक उपन्यासो को जो मोहल्ले और कस्बे का रूप उजागर करते हैं, इन उपन्यासो के मध्य नही गिना जा सकता, क्योकि ये उपन्यास अपनी कलात्मक सरचना एवं वस्तु-मुखी दृष्टि से नगर-परक उपन्यासो से बिल्कुल भिन्न हैं।

अत. हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि आंचलिक उपन्यासो का विषय-क्षेत्र ग्राम एव भारत के वे ही अज्ञात और उपेक्षित अचल हैं, जिनकी सुध-बुध हिन्दी उपन्यास-कार को स्वतन्त्रता परवर्तीकाल मे अपनी सस्कृति एव गौरव के पुन. स्थापनार्थ हुई। आंचलिक उपन्यासो का प्रादुर्भाव पश्चिमी सभ्यता एव आधुनिकता की प्रतिक्रियावश विद्रोह मे हुआ, क्योकि तत्कालीन उपन्यासो में अनुभूतियो की नग्न एव अर्थहीन अभिव्यक्ति, मूल्यहीनता, सत्रास, कुठा, अर्थशून्य—बेईमानी, नपुसक आतक आदि सभी का दबदबा बढने लगा था। यह एक सत्य है कि "कला का व्यापक तथा सभावनापूर्ण रूप हमे ऐसे (आंचलिक) उपन्यासो मे ही मिलता है जो विशुद्ध रूप से ग्रामीण हैं।"[3] *इन्ही आंचलिक उपन्यासो मे ग्राम-चेतना के विविध आयामो की आन्तरिकता अपनी* समग्रता के साथ अनुभूत्यात्मक स्तर पर अभिव्यक्त हुई है। आंचलिक उपन्यास के विषय मे अभिव्यक्त कुछ प्रमुख विचार निम्न प्रकार हैं—

१. "आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमे अविकसित अचल-विशेष के आदि-वासियो अथवा आदिम जातियो का विशेष रूप से चित्रण किया गया हो।"

(आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सारिका, नवम्बर १९६१, पृ० ६१)

---

१ प्रकाश वाजपेयी हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० २ (भूमिका से)।
२ प० राजनाथ पाण्डेय पूर्णिमा, पृ० ६, अप्रैल १९६०।
३ हीराप्रसाद त्रिपाठी 'कल्पना' मासिक, पृ० २६, मई १९५८।

२. "आंचलिक उपन्यास तो अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है, उसका सम्बन्ध जनपद से होता है ऐसा नहीं, वह जनपद की ही कथा है।"

(डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १८८)

३. "आंचलिक उपन्यास में लेखक देश के किसी विशेष भूभाग पर ध्यान केन्द्रित कर उसके जीवन को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी अनन्य विशेषताओं, विशिष्ट व्यक्तित्व, रीति-परम्पराओं तथा जीवन-विधा के प्रति सचेत व आकृष्ट हो जाता है।"

(डॉ० देवराज उपाध्याय : हिन्दी रिव्यू मैगजीन, मई १९५६)

४. "उपन्यासों में लोक-रंगों को उभार कर किसी अंचल-विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास कहा जायेगा।"

(डॉ० धनंजय वर्मा : आलोचना, अक्तूबर, १९५७)

५. "आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें किसी विशेष जनपद, अंचल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्रण होता है।"

(डॉ० विशम्भरनाथ उपाध्याय : साहित्य-सन्देश, जनवरी-फरवरी, १९५८)

६. "आंचलिक उपन्यास वह है, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के वैविध्यपूर्ण जीवन का चित्रण हो। जिसमें वहाँ की भाषा, लोकोक्ति, लोक-कथायें, लोक-गीत, मुहावरे और लहजा, वेश-भूषा, धर्म-जीवन, समाज, संस्कृति तथा आर्थिक और राजनीतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभर कर आएँ।"

(डा० हरदयाल : आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य, पृ० ८०)

संरचना :

'संरचना' शब्द अंग्रेजी के 'स्ट्रक्चर' शब्द का पर्याय है, जिसका मूल उत्स आवयविक सिद्धान्त है। संरचना में सम्यक् रचना का भाव नहीं अपितु उसमें अंतर्ग्रथन, संगुम्फन एवं आन्तरिक संघटना का भाव निहित है। कृति की आन्तरिक अन्विति बहुस्तरीय एवं संश्लिष्ट होती है। उसकी परस्पर लिपटी तहों में गुंथे हुए प्रसंग, घटनावलियाँ, मन:स्थितियों के आवर्त अपने पारस्परिक रचाव में ही सारी विरूपता एवं जटिलता को द्योतित करते हैं। अत: संरचना के विभिन्न घटकों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण से ही कृति में अंतर्निहित युग-सत्य एवं भोगे हुए यथार्थ की सार्थकता एवं प्रामाणिकता की समग्र पहचान सम्भव है।

आंचलिक उपन्यासों की औपन्यासिक संरचना में नये आयाम विकसित हुए हैं और उन नव्य आयामों के कारण इनकी संरचना को भी सम्पूर्णता की दृष्टि से ही आंका जा सकता है। इन उपन्यासों में न तो पारम्परिक कथानक है, न नायक। गाँव की धूल-धूसरित जिन्दगी की व्यथा-कथा कहने वाले इन आंचलिक उपन्यासों को नदी-नालों के कोलाहल ने स्वर दिये हैं, हवा की साँय-साँय ने गति दी है, जंगल, वन और धरती की सोंधी गंध ने परिवेश दिया है और आदमी के सुख-दुखों ने नवीन

संवेदनायें प्रदान की हैं। इन उपन्यासों की दृष्टि बहुआयामी होती है और उपन्यासकार अपने परिवेश और समय से जुड़ा होता है ताकि अंचल की समस्त संगतियों एवं विसंगतियों को उद्घाटित कर सके। "आंचलिक उपन्यास की दृष्टि एक दिशा में नहीं चारों दिशाओं में होती है। यह ध्यान की अपेक्षा समय में जीता है। लेखक कभी इस कोण पर खड़ा होता है, कभी उस कोण पर, कभी ऊँचाई पर, कभी नीचाई पर। इसमें अनेक पात्रों की आवश्यकता रहती है। हर पात्र की सत्ता महत्त्व की है। इनमें से कोई पात्र एक-दूसरे के निमित्त नहीं होता, वे सब अंचल के निमित्त होते हैं। इस उद्देश्य को न समझ पाने के कारण ही लोगों को कथानक का, पात्रों का, सांस्कृतिक पक्षों का बिखराव दीखता है, उनमें एकसूत्रता और एक दिशागामिता नहीं दीखती।"[1] अंचल की समग्रता का उद्घाटन ही संरचना के विविध तत्त्वों का निर्माण-कार्य होता है।

आंचलिक उपन्यासों एवं आधुनिक-नगर बोध-प्रधान उपन्यासों की मानवीय अनुभूतियों एवं संवेदनाओं के अन्तर्गत साम्य-वैषम्य के अतिरिक्त उनका अपना विशिष्ट परिवेश वह सन्दर्भ-बिन्दु है, जो दोनों को दो दिशाओं में बाँट देता है। शहरों में बौद्धिकता और यांत्रिकता के कारण उनकी संवेदनाओं में ऊब, घुटन, अकेलापन, तनाव, कुण्ठायें, उदासी एवं संबंधों की जटिलतायें हैं जबकि गाँव की मानवीय संवेदनायें अभी इन सब प्रवृत्तियों से कुछ अलग हैं। डॉ० विवेकीराय ने इस विषय में संरचना के वैविध्य की बात ठीक ही कही है, "गाँव अभी ऐसी बौद्धिकता, आधुनिकता और नागरिकता से प्रशिक्षित नहीं हो पाये हैं, अतः पूर्ण प्रामाणिकता के साथ, ईमानदारी के साथ और भोगे हुए सत्य की प्रतिबद्धता के साथ जब कथाकार उस जीवन को सृजनात्मक स्तर पर उठाता है तो उसका शिल्प स्वयमेव अपनी राह बना लेता है।"[2]

इन आंचलिक उपन्यासों की संरचना-प्रक्रिया अपनी है, उसके रचना-तन्तु और बुनावट के तौर-तरीके भी अपने हैं। कहीं यह बुनावट सघन है तो कहीं इकहरी, कहीं प्रसार और फैलाव लिए है तो कहीं संकुचन-वृत्ति। आंचलिक उपन्यास न तो मनोविज्ञानपरक उपन्यास की भाँति पात्रों के मन का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं और न ही घटना-प्रधान उपन्यासों की भाँति विभिन्न घटनावलियों के माध्यम से मानसिक यात्रायें प्रस्तुत करते हैं। आंचलिक उपन्यासों के संरचना-विधान के विषय में आंचलिक उपन्यासकार एवं आलोचक डॉ० मिश्र से पूर्ण सहमति है कि "अंचल के जटिल जीवन-चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखाएँ खींचता है, कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो-चार बिन्दु अपनी तूलिका से झाड़ देता है। अनेक पर्वों, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, व्यथा के अवसरों, गीतों, संघर्षों, प्रकृति के रंगों, पुराने-नये जीवन-मूल्यों, जातियों आदि से लिपटा हुआ अंचल का जीवन अभिव्यक्ति

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १८९-९०।

२. डॉ० विवेकीराय : 'कल्पना' मासिक, पृ० २३, जुलाई १९७२।

के लिए नए माध्यम की अपेक्षा करता है।"[1] आज के परिवर्तित ग्रामीण परिवेश और उसकी चेतना ने भी औपन्यासिक सरचना को कई स्तरों पर प्रभावित एव परिचालित किया है। वैज्ञानिक उन्मेष ने गाँव के सहज और निसर्ग वातावरण में अपने यंत्रों से यान्त्रिक-भावना का ही प्रसार नही किया अपितु उसके विभिन्न ससाधनो ने नये-नये शब्द प्रदान किए हैं, जैसे—ट्रेक्टर, थ्रेसर, ट्यूबवेल, कम्प्रेसर आदि। अपनी संश्लिष्ट सवेदनाओं की अभिव्यक्ति जब कथाकार लोकभाषा और इन नये-नये शब्दो को उसमे मिलाकर प्रस्तुत करता है तो भाषा की गड्डमगड्ड स्थिति सी लगती है, *लेकिन उसका अपना सौन्दर्य होता है जो सर्जन की अपरिहार्य आवश्यकताजन्य होता है।* ग्रामचेतना गत प्राचीन एवं नवीन मूल्यों की टकराहट तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यशेषता, पारम्परिक निसर्गता एवं सहजता, *लघुमानवोत्थान की संविधान-प्रेरित* साहित्यिक-प्रवृत्ति, वैज्ञानिक-उन्मेष, जीवन यथार्थ के प्रति नयी आग्रहशीलता आदि ऐसे सदर्भ-बिन्दु हैं, जिन्होंने गाँव के स्वरूप को तो बदला ही है, साथ ही औपन्यासिक सरचना को भी नई गति और नये आयाम प्रदान कर प्रभावित किया है।

आंचलिक उपन्यासो की सरचना के प्रमुख विधायक तत्त्व हैं—नवीन कथा-विन्यास, जटिल यथार्थवादी विशिष्ट परिवेश, पात्रों की परिवर्तित मन स्थितियाँ, आंचलिक सन्दर्भों एव स्वरों से रचित भाषा तथा बिम्बों, प्रतीकों और रगों की अद्भुत योजना। इनके पारस्परिक रचाव में ही वस्तुत. संरचना की सफल परिणति व्याप्त है। उपन्यास एक प्राणधारी रचना के समान जीवन्त इकाई है जिसके अग-उपांग पृथक्-पृथक नही किये जा सकते। उसके प्रत्येक अंग मे अन्य अगो का यत्किंचित् अश अवश्य निहित रहता है। "कथा के अन्तर्गत जीवन के अनेक तन्तुओं का ताना-बाना बुना जाता है जो एक विशेष 'पैटर्न' बनाता है जिसमें कुछ रंग और सूत्र अधिक उभर आते है। परन्तु उस पैटर्न से अलग होकर नही, अन्य सभी से सम्बद्ध होकर ही।"[2] कहा जा सकता है कि उपन्यासकार, विषय और संरचना मे इतने घुल-मिल जाते हैं कि इन दोनों का पृथक्त्वबोध नही हो पाता। आंचलिक उपन्यासो की सश्लिष्ट संरचना का मूल्यांकन उनकी समग्रता एव आवयविक सरचना को ही दृष्टि मे रखकर किया जा सकता है, क्योंकि ग्राम-जीवन के भोगे हुए यथार्थ का सश्लिष्ट इतिवृत्त अपनी सम्पूर्णता मे इन उपन्यासो मे उजागर हुआ है। वस्तुतः "एक कृति की सार्थकता उसकी विशिष्ट आवयविक सरचना पर आधारित है न कि अपरिमित ठूँस-ठाँस पर। *साहित्य वास्तविक जीवन का यान्त्रिक अनुकरण नही बल्कि उसके सारभूत* तत्त्वो का एक सघन एव प्रखर प्रतिबिम्ब होता है।"[3] कुछ प्रमुख आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से सरचना के विविध घटको की पहचान यहाँ प्रस्तुत है।

---

१ डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १६०।
२. डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : हिन्दी उपन्यास, पृ० ७७।
३. ओमप्रकाश ग्रेवाल : नेक उत्तरार्द्ध, नवम्बर १६७३, पृ० ११।

नवीन कथा विन्यास।

आंचलिक उपन्यासों में कथानक का स्वरूप न तो घटना-प्रधान उपन्यासों की भाँति है, न चरित्र-प्रधान उपन्यासों की भाँति, न मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाँति और न ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति। कथागत नैरन्तर्य और अविरलता के अभाव के साथ-साथ कथा-तंतुओं में सुसम्बद्धता स्पष्ट परिलक्षित नहीं होती। उनका आन्तरिक एकात्म्य घटना और पात्रों से संबंधित न होकर अंचल की समग्रता एवं सम्पूर्णता से होता है जिसे उजागर करना उनका लक्ष्य होता है। उपन्यासकार की केन्द्रीय दृष्टि अंचल की सम्पूर्ण विविधता और समग्रता पर केन्द्रित होती है और वह अंचल ही उपन्यास का नायक होता है।" वास्तव में आंचलिक उपन्यास को पिकनिकी दृष्टि से किसी स्थान की बाहरी रंगीनी, लहलहाहट बटोरने वाली चेष्टा और भौगोलिक दृष्टि से भूमि का सर्वेक्षण करने वाले प्रयत्नों—दोनों से अलग देखना होगा। अंचल को देखना यानी उसके समग्र जीवन को देखना। जीवन बाहर भी है भीतर भी है। दोनों एक-दूसरे से संयुक्त हैं। मनोवैज्ञानिक कथाकार जीवन को बाहर से काटकर भीतर की ओर देखने लगता है और सतही सामाजिक दृष्टि जीवन को ऊपर देखने लगती है। आंचलिक उपन्यासकार जीवन को बाहर-भीतर के सम्पूर्ण सामंजस्य में देखना चाहता है। देहाती अंचल, वन्य अंचल, पहाड़ी अंचल आदि में जीवन और प्रकृति का गहरा सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।"[1]

आंचलिक उपन्यासों की कथावस्तु परम्परागत वस्तु योजना की व्यापकता में, आधिकारिक-कथा, प्रासंगिक-कथा एवं अन्य उपकथाओं का संयोजन कथानक के आवश्यक उपादान के रूप में नहीं होता और न ही उनसे कथानक के विभाजन का कोई आधार प्राप्त होता है। वे तो मात्र आंचलिक जन-जीवन का चित्रण प्रस्तुत करती है, क्योंकि इन उपन्यासों में मानवीय-कथाओं को केन्द्रीयता नहीं प्रदान की जाती। जनजीवन को उजागर करने में कोई एक कथा अन्यों की तुलना में प्रभावक हो सकती हैं लेकिन सभी का महत्त्व समान और लक्ष्य आंचलिक जन-जीवन का समग्र अंकन होता है।

कथा-विन्यास में वैविध्य एवं वस्तुनिष्ठता इन उपन्यासों की विशिष्टता है इस वैविध्य के कारण, "इन उपन्यासों में कथागत बिखराव का आभास होता है। समग्रता को समजित करने अपने पक्षों को बाँधने, कोणवैविध्य के समवाय, अनेक जीवन-स्तरों को एक साथ रखने, समाज और व्यक्ति-चेतना के अनेक सूत्रों को संगठित करने के बहुमुखी प्रयत्नों में विच्छिन्नता का प्रतिभास स्वाभाविक ही है। यहाँ बाह्य संगठन देखने की चेष्टा न्यायोचित नहीं है क्योंकि इनका संगठन आन्तरिक ही हो सकता है।"[2] अतः कृति की अन्तश्चेतना तक उसकी आन्तरिक यात्रा द्वारा ही पहुँचा जा सकता है।

१. डॉ॰ रामदरश मिश्र · हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ॰ १८८-८९।
२. वही, पृ॰ १९०।

फणीश्वर नाथ 'रेणु' का 'मैला आंचल' आंचलिक उपन्यासों की सर्जन यात्रा का सभावनापूर्ण प्रारम्भ है। यह प्रारंभ कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, एक तो इसने एक नयी औपन्यासिक विधा का नामकरण किया, दूसरे इसने शिल्प की नयी दिशाओं को खोजा, तीसरे इसने अभिशप्त और उपेक्षित जन-जीवन की विसगतियों को उद्घाटित किया, चौथे औपन्यासिक रचना विकास को प्रेरित किया। नवीन कथा-विन्यास की सघन बुनावट का प्रश्न इसकी दूसरी विशिष्टता से जुड़ा हुआ संदर्भ है जिसकी शुरुआत भी इसी उपन्यास से होती है, भले ही आंचलिक उपन्यासो की शुरुआत का निरर्थक इतिहास शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' में खोजा जाय, या निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' मे ढूंढा जाय अथवा नागार्जुन के ही 'बलचनमा' उपन्यास को हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास करार दिया जाय। कथानक के सश्लिष्ट रचाव का प्रारंभ वस्तुत: 'मैला आंचल' ही है जिसमे भोगे हुए अंचल विशेष का समग्र जटिल जीवन मोटी-पतली रेखाओ से, पर्त-दर-पर्त बुनी पारस्परिक घटनाओं से, विविध प्रसगो के अन्तर्ग्रथन से लोक-जीवन की अच्छी-बुरी परछाइयो से, नये पुराने जीवन-मूल्यों की टकराहटो से एवं अन्तर्विरोधो के स्वरो से उद्घाटित हुआ है।

'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद कई लेखकों ने कई प्रकार से प्रेरणायें ग्रहण की। किसी ने आंचलिक उपन्यास को गांव की धरती से जोड़कर समझा, किसी न शिल्प की नयी आहट के रूप में लिया, किसी ने प्राकृतिक उरेहण का ही इसे प्रत्यय माना। अत: कई तरह के उपन्यास आंचलिकता के मुहावरे को लेकर आये। आंचलिकता के ऊपर बहस बढी और जब इन उपन्यासो का मूल्याकन हुआ तो फैशन धर्मी आंचलिक उपन्यास जो प्राकृतिक उरेहण को ही प्रत्यय मानकर आगे आये थे पिटे, तब उन आंचलिक कथाकारों ने एक नयी युक्ति सोची और उन्होंने आंचलिकता का अर्थ विस्तार करके शहरी मुहल्लो तक को भी आंचलिकता की सीमा में बटोर लिया। कुछ आलोचकों ने भी जिनको हर प्रेरणा का आधार पश्चिमी दुनिया में दिखाई पड़ता है, इनके स्वर के साथ स्वर मिलाये।

जिन लेखको ने आंचलिक उपन्यास को पिकनिकी दृष्टि से किसी स्थान विशेष की बाहरी रंगीनियों का, प्राकृतिक दृश्यो का, भौगोलिक सर्वेक्षण मात्र समझा वे न तो उनमें अनुभवो की ऊष्मा ला पाये, न जटिल जीवन का चित्र ही दे पाये अतः उनके कथानको में संश्लिष्ट रचाव न आ पाया। इस कोटि के उपन्यासो में शैलेश मटियानी के 'एक मूठ सरसों', 'चिट्ठी रसैन', 'हौलदार', योगेन्द्रनाथ सिनहा का 'वन के मन मे', राजेन्द्र अवस्थी के 'जंगल के फूल', 'सूरज किरन की छांव', हिमांशु जोशी का 'बुरांस फूलते तो हैं', शानी का 'शाल वनो का द्वीप', श्याम परमार का 'मोरझाल', मनहर चौहान का 'हिरना सांवरी', देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' एवं 'रथ के पहिए' आदि उल्लेख्य हैं। इन आंचलिक उपन्यासो की तेज भीड़ ने 'रेणु' के आंचलिक उपन्यास के परिभाषिक स्वरूप के 'इमेज' को तोड़ा और लेखक लोग आंचलिक

प्रभावोत्पादक अवतारणा एक निजी विशिष्टता है जो इन्हें अन्य उपन्यासों से भिन्नत्व प्रदान करती है। अन्य उपन्यासों में मात्र भौगोलिक तथा सामाजिक वातावरण के अभौतिक रूप को ही प्रतिपादित किया जाता है जबकि इन उपन्यासों में परिवेश के समग्र भौतिक स्वरूप को ही अभिव्यक्ति दी जाती है। प्राकृतिक एवं भौगोलिक स्थितियों के यथार्थ प्रत्यंकन से अंचल विशेष की समग्रताओं, जटिलताओं एवं विविधताओं को स्वर दिये जाते हैं। चित्रात्मकता इनकी विशिष्टता है जिससे जिये हुए जीवन की गहरी अनुभवशीलता का अहसास होता है।

इन भौगोलिक विविधताओं एवं विशालताओं के आँगन में ही हमारी भारतीय संस्कृति के तंतु बिखरे पड़े हैं। लेखक कहीं पठार के हृदय में झांकता है, तो कहीं नदी के किनारों से टूटती बनती जिंदगी की व्यथा-गाथा कहता है; कहीं वन के मन में विचरण करता है, तो कहीं समुद्री तूफानों के झोंके सहता है। आँचलिक उपन्यासकारों ने प्रकृति के कोमल और उग्र दोनों स्वभावों को बड़ी ही मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है तथा उसे मानवीय जिंदगी से संदर्भित किया है। भौगोलिक परिवेश की एक-एक धड़कन के स्वर उसकी लेखनी के विषय बने हैं। आँचलिक उपन्यासों में अंचल के व्यक्तित्व का निर्माण प्रकृति के नाना रूपों और उनके कैनवस के अंकन से ही संभव हुआ है। "अतः आँचलिक उपन्यासकार एक दिशा में बहने की अपेक्षा पूरे अंचल की चतुर्मुख यात्रा करता है और उन उपादानों को यहाँ-वहाँ से चुनता है जो मिलकर अंचल की समग्रता का निर्माण करते हैं।"[1] मनुष्य किसी भी समाज का सदस्य हो वह अपने परिवेश की प्रभाव व्याप्ति से मुक्त नहीं रह सकता। परिवेश ही उसकी सामाजिक रीतिनीतियों, उत्सवों, त्यौहारों, गीतों, संघर्षों, रहन-सहन की विधियों, आय-व्यय के साधनों आदि विभिन्न क्रिया-व्यापारों का नियन्ता होता है। जैसे समुद्र के तटवर्ती-प्रदेश के निवासियों का जीवन वहाँ की रीतिनीतियों से चलता है, तो पहाड़ी उपत्यकाओं के लोग अपने ढंग से जीवन चलाते हैं।

आँचलिक उपन्यासों की सर्जनात्मकता पर आरोप लगाते हुए कुछ आलोचक इनमें जीवन की समस्याओं को कम और परिवेश के बाहरी इतिवृत्त को अधिक पाते हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं। प्रकृति का गाँव अथवा अन्य अंचलों में मनुष्य की जिंदगी के साथ रागात्मक संबंध है और वह उनके नित्य जीवन की एक सहचरी की भांति है। वह उनके साथ सुख में हँसती भी है और हँसाती भी है, तो दुःख में रोती भी है और रुलाती भी है, संघर्षशील स्थितियों का निर्माण भी करती है और उनके साथ सृजन की प्रेरणा भी देती है। अतः वह विविध रूपों में ग्राम-मानसिकता और वहाँ के लोगों की चेतना से विभिन्न भावों एवं बोधों के स्तर पर जुड़ी हुई है। हमारे दैनिक जीवन के विविध कार्य-व्यापार तथा सांस्कृतिक उत्सव-त्यौहार सभी कुछ तो इससे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जुड़े होते हैं।

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १९०।

अनुभव की प्रामाणिकता या यथार्थ की गहरी पकड़ के संदर्भ में जब आंचलिक उपन्यासों में चित्रित परिवेश की परख करते हैं तो इन आंचलिक उपन्यासों की दो कोटियाँ बनती हैं। एक तो वे उपन्यास हैं जिनका सृजन उन लोगों ने किया है जिनका उस भूमि विशेष से प्रगाढ़ संबंध रहा है, दूसरे वे उपन्यास हैं जिनमें आगत के सहारे अंचलों का उद्घाटन हुआ है तथा जिन्हें उन सर्जकों ने जिज्ञासा भाव या यात्रा के माध्यम से पुनःनिरखकर जाना है। प्रथम प्रकार के उपन्यासकारों का सम्बन्ध और दीर्घ लगाव परिवेश की गहरी और सन्निकट पहचान उभारता है क्योंकि ये वहां के जीवन को अनुभूति के स्तर पर जीते हैं। इन्होंने वहाँ के अभाव भी सहे हैं और वहाँ की खुशियाँ भी लूटी हैं, वहाँ के दर्द भी भोगे हैं और वहाँ के गीत भी गाए हैं तथा इसी परिवेश की छाया में पलकर बड़े हुए हैं। समूचे गाँव के घर-द्वार, खेत-खलिहान, बाग-बगीचे, नदी-नाले सभी इनके अपने जाने-पहचाने हैं और दीर्घ काल तक ये इनके साथ रहे हैं। इन उपन्यासों में प्रमुख हैं 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'वरुण के बेटे', 'दुःख मोचन' (नागार्जुन), 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा' (भैरवप्रसाद गुप्त) 'मैला आंचल', 'परती : परिकथा', 'दीर्घतपा', 'जुलूस', 'कितने चौराहे' (फणीश्वरनाथ 'रेणु'), 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'सूखता हुआ तालाब' (रामदरश मिश्र), 'आधा गाँव' (राही मासूम रजा), 'अलग-अलग वैतरणी' (शिव प्रसाद सिंह), 'रागदरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'माटी की महक' (सच्चिदानन्द 'धूमकेतु'), 'बहता पानी रमता जोगी' (ओमप्रकाश निर्मल), 'दो अकालगढ़' (बलवन्त सिंह), 'बया का घोंसला और सांप' (लक्ष्मी नारायण लाल), 'जमींदार का बेटा' (दयानाथ झा), 'कोहबर की शर्त' (केशवप्रसाद मिश्र), 'दूब जनम आई' (शिवसागर मिश्र), 'चिट्ठी रसैन', 'हौलदार' (शैलेश मटियानी), 'ग्राम सेविका' (अमरकान्त) तथा 'अचला' (मुहम्मद इसराईल अंसारी) आदि।

दूसरी कोटि के उपन्यासों में वे उपन्यास परिगणित होते हैं जिनकी वस्तुवस्तु उन सुदूर स्थित विभिन्न क्षेत्रों एवं जन-जातियों से सम्बधित है जो उन साहित्यकारों के अपने नहीं हैं, लेकिन सायास उन्हें अपनाकर अपनी लेखनी का विषय बनाया है। वस्तु का सायास रूप यथार्थ के अधिक निकट नहीं होता। हमारे इन उपन्यासकारों ने लम्बी-लम्बी यात्रायें कर, यातनायें सह, अथक प्रयत्नों से उनकी भाषा, बोली, मुहावरे आदि का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया है तब कहीं जाकर उनके रीति-रिवाजों, उनके उत्सव त्यौहारों, उनके व्यवसायों आदि से साक्षात्कार किया है और परिवेश विशेष के मिजाज को उभारा है। इस कोटि के उपन्यासों में—'रथ के पहिए', 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'मुक्तावती', 'आदित्यनाथ' (बलभद्र ठाकुर), 'सूरज किरन की छाँव', 'जगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी), 'वन के मन में' (योगेन्द्र नाथ सिनहा), 'सागर लहरें और मनुष्य' (उदयशकर भट्ट), 'कब तक पुकारूँ' (रागेय राघव), मोरझाल (श्याम परमार), 'शालवनों के द्वीप' (शानी) आदि प्रमुख हैं।

आंचलिक उपन्यासों की रचनाधर्मिता ने देश के विविध अछूते अंचलों को

टोह लगाई है तथा इनमें प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण की सृष्टि एक-दूसरे के पर्याय के रूप में हुई है। आंचलिक उपन्यासकार जिन प्राकृतिक रूप-छवियों को अपनी कथा मे नियोजित करता है वे भले ही कथा की धारा से असम्पृक्त-सी जान पड़ें और उसमें रस बस न पाएँ लेकिन वे ही रूप-छवियाँ जीवन से जुड़कर हमारी अनुभूतियो, हमारे भावबोध एवं हमारी सौन्दर्य-परिकल्पनाओ को उजागर करती है। परिवेश की सृष्टि की दृष्टि से 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा', 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'कब तक पुकारूँ', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'जमींदार का वेटा', 'मुक्तावती' आदि उपन्यास बड़े ही बढ़िया बन पड़े हैं जिन्होंने प्रकृति और जीवन की तपन को एक करके देखा है। इन उपन्यासों मे अंचलो का बाह्य एव आन्तरिक यथार्थ अपने परिवेश की आड़ी-तिरछी रेखाओ एवं लोक-तत्त्वों की व्याप्ति से बारीक-से-बारीक तफसीलों को लेकर प्रकट हुआ है।

पात्रों की परिवर्तित मनःस्थितियाँ :

आंचलिक उपन्यासो मे पात्रो की सृष्टि, परम्परा-प्रधान-उपन्यासो से भिन्नत्व लिए होती है। उनकी भिन्नता का बिन्दु, परिवेश है। घटना-प्रधान एव व्यक्ति-प्रधान उपन्यासो मे जहाँ लेखक पात्रों की सम्पूर्ण जिन्दगी का इतिवृत्त प्रस्तुत करता है, वहाँ इन उपन्यासो मे पात्रो की सृष्टि का लक्ष्य वह विशिष्ट भूभाग होता है जिसको उनके व्यक्तित्व की आड़ी-तिरछी रेखाओं से उसे उजागर करना होता है। "अचल की विविधता को रूप देने के लिए लेखक कभी इस कोण पर खड़ा होता है कभी उस कोण पर, कभी ऊँचाई पर, कभी निचाई पर। इसमे अनेक पात्रो की आवश्यकता रहती है। हर पात्र की सत्ता महत्त्व की है। इनमे से कोई पात्र एक-दूसरे के निमित्त नहीं होता, वे सब अचल के निमित्त होते हैं।"[1]

इन सब उपन्यासों मे सम्पूर्ण अंचल के उद्घाटनार्थ सम्पूर्ण अंचल के पात्र तो समाहित होते हैं, लेकिन लेखक उन पात्रो के समग्र व्यक्तित्व का आलेखन न कर, मात्र इतना ही करता है जितना उस अंचल-विशेष की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है। दूसरा इन उपन्यासो की अपनी सीमा भी है, अगर ये सभी विशिष्ट एवं सामान्य पात्रो का समग्र उद्घाटन अपना लक्ष्य बना लें तो उपन्यास अस्त-व्यस्तताओं का अद्भुत जगल बनकर रह जायेगा। "आंचलिक उपन्यासकार के पात्रो के रूपाकार मे स्थानीय विशेषता और बहिरंग में स्थानीय वेश-भूषा की अनिवार्यतः परिलक्षित होती है। इन पात्रो मे अंचल का अतरंग आत्म और बाह्य जीवित रूपाकार का ही मानवीकरण होते हैं। इसलिए वे जीवित और चेतन होते हैं। उपन्यास मे अंकित जीवन को वे स्वय जीते है। केवल प्रतिनिधित्व ही नहीं करते, वरन् उसे गति भी प्रदान करते हैं।"[2]

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १८९-१९०।
२. डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : हिन्दी उपन्यास, पृ० ७९-८०।

आंचलिक उपन्यासो मे न कोई नायक होता है और न कोई खलनायक। परिवेश की मिट्टी से गढे हुए पात्र लेखकीय आवश्यकता का निर्वाह करने आता है और चला जाता है। कोई पात्र आदि से अंत तक आवश्यक है तो कोई मात्र कुछ क्षण ही। समय की अवधि उन्हें विशिष्ट और सामान्य मे नही बाँटती। विशिष्ट भूभाग का व्यक्तित्व-निर्माण ही इनका लक्ष्य होता है और उसी को चित्रित करने के लिए विभिन्न छोटे-बडे पात्रो का नियोजन होता है। सामान्यतः इन उपन्यासो मे अन्य उपन्यासो की तुलना मे पात्र अधिक होते हैं एवं उनका महत्व भी लगभग समान होता है।

ग्राम-जीवन की बदलती हुई स्थितियो, उभरते नये मूल्य-बोधो, परिवर्तित सन्दर्भो, टूटते-बनते नये सम्बन्धो की जो नयी मानसिकता है उसको यथावत् प्रस्तुतीकरण के लिए नये चरित्र-विकास की आवश्यकता है और यह चरित्र-विकास कही गहरी आन्तरिकता की माँग करता है, तो कही ऊपरी सपाट पर्तें चाहता है, कही उद्धरण-शैली इसे अपेक्षित है, तो कही परिवेश-पर्यवेक्षण की फोटोग्रेफिक-शैली बिना इसका कार्य नही चलता। प्रजातान्त्रिक विकास के साथ अचलो एवं ग्रामो मे नये जटिल चरित्र उभर कर आये हैं। 'मैला आँचल' का बावनदास गाधीवादी विचार-धारा का प्रतिपादक है तो कालीचरण मे नये नेता के गण और तेवर दृष्टिगत होते हैं। 'मैला आँचल' का डाक्टर प्रशान्त और 'परती : परिकथा' के जितेन्द्र दोनो एक ही चरित्र के विकास हैं जो गाँव को बड़ी ललक और आत्मीयता प्रदान करते हैं, ये 'रेणु' जी के आदर्श चरित्र हैं जिन्हें 'रेणु' ने अभिजात-वर्ग से तोड़ गाँव की धरती मे जोड़ा है। 'परती : परिकथा' का लुत्तो', 'जल टूटता हुआ' का रामकुमार और दीनदयाल तीनो चेहरे धूर्त, नैतिकता-विहीन राजनीति के खिलाडी हैं। स्वार्थ, निर्दयता, बेईमानी, झूठ, फरेब आदि इन्हे एक-दूसरे से मिलते है।

'परती : परिकथा' के कामरूप नारायण सिंह, 'जमींदार का बेटा' के महेश्वर, 'पानी के प्राचीर' के मुखिया, 'अलग-अलग वैतरणी' के जमींदार जैपालसिंह, 'जुलूस' के छोटन बाबू, 'जल टूटता हुआ' के महीपसिंह, 'राग दरबारी' के वैद्यजी आदि ऐसे गाँव के कार्यो पात्र हैं जो कही गाँव को राजनीति की तिकड़मो मे लपेटते हैं, कही निजी स्वार्थो के लिए गाँव की पारस्परिकता एवं सामूहिकता की बलि चढाते हैं तो कभी गाँव मे क्रूर एवं भयावह स्थितियो का जाल बुनते हैं। गाँव के सही व्यक्ति जैसे 'दुखमोचन' के दुखमोचन, 'जमींदार का बेटा' के विनोद, 'बया का घोंसला और साँप' की जमुना, 'पानी के प्राचीर' के नीरू, 'अलग-अलग वैतरणी' के जग्गन मिसिर, खलील मियाँ और विपिन, 'गीध' के विमल, 'माटी की महक' के मनू बाबा और गौरी, 'सती मैया का चौरा' के मुन्नी और मन्ने, 'जल टूटता हुआ' के सतीश, कुरु और बख्शी, 'सूखता हुआ तालाब' के देव प्रकाश और चेतन्दा आदि को अनेक प्रकार की अनेक तरह से आस्थाएँ और कष्ट झेलने पड़ते हैं। 'कब तक पुकारूँ' का सुखराम कोरिन और दलित नट जाति की भोगी हुई व्यथा कहता है तो 'राग दरबारी' के समूचे गाँव शिवपाल गंज के पात्रो की नियति बड़ी भयानक है, यहाँ की धरती

पर ने देकर रगनाथ जैसे नपुंसक पढ़े-लिखे, और लगड़ जैसे बेवकूफ ही मूल्यों के रूप में शेष है अन्यथा सब कोई भ्रष्ट हो चुका है। 'बबूल' के मास्टर मनबोध और 'जल टूटता हुआ' के मास्टर सुग्गन अपनी मानसिकता में एक से दिखलाई पड़ते हैं जो गाँव के आम आदमियों के मोह-भंग की व्यथा-कथा कहते हैं, क्योंकि आजादी से, देश की योजनाओं से एवं ग्राम-विकास कार्यों से इन्होंने बड़ी-बड़ी आशाएँ संजोयी थीं।

पात्र-सृष्टि की दृष्टि से सबसे अधिक उल्लेखनीय उपन्यास है—'आधा गाँव' जिसमें पात्रों की संख्या-संबंधी पहले सभी रिकार्डों को तोड़ दिया है। यों तो पात्रों की अधिकता आंचलिक उपन्यासों की एक विशिष्टता ही है, लेकिन यह उपन्यास निश्चित रूप से हिन्दी में सर्वाधिक पात्रों वाला उपन्यास है। आधे गाँव की पूरी आबादी ही इस उपन्यास में प्रस्तुत है, जिसमें—और तो और लेखक भी अपने समस्त पारिवारिकों के साथ अपनी अच्छी-बुरी परछाइयों को लिए उपस्थित हुआ है। पाठकों का बड़ा संकट इन पात्रों की तालमेल बैठाने में है, जिसमें अक्सर उनसे भूल की संभावनायें तो बनी ही रहती हैं, पात्रों की 'आइडेन्टिटी' भी पूरी तरह पकड़ में नहीं आती तथा एक का पाप दूसरे के सिर अनजाने में मढ़ जाता है।

'रागदरबारी' के पात्रों की पहचान लेखक की व्यंग्य-भाषा बनाती है तो 'कब तक पुकारूं' के पात्र सपाट बयानी से उभरते हैं, 'इमरतिया' या 'बलचनमा' अपनी विडम्बनाओं की कहानी आत्मकथात्मक ढंग से कहते हैं। राजनीतिक खूंटों से बंधे पात्र व्यक्ति कम और विचारधारा अधिक हैं जो गाँव की धरती में कुछ अटपटे लगते हैं, क्योंकि गाँव में वर्ग-संघर्ष अभी पाले खींचकर आमने-सामने कबड्डी खेलने जैसा नहीं है, भले ही राजनीतिक चेतना की समझदारी उनमें नयी मानसिकता का रूपायन कर रही है।

इन उपन्यासों में अन्तः-बाह्य संवादों की नयी योजना ने, मन:स्थितियों के विषम आवर्तों को उजागर कर चरित्रों के पूरे-अधूरे व्यक्तित्वों, उनकी टूटनों, उनके आलोड़नों-विलोड़नों आदि सबकी गहरी पहचान प्रस्तुत की है। ऐसा लगता है कि मानों बाह्य मानसिकता का फोटोग्रेफिक चित्र है। 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र) के मास्टर सुग्गन विचारों की जटिल प्रक्रिया के आरोहों-अवरोहों में फँसे, आजादी और बाढ़ की स्थिति पर सोचने अपनी विचार-सरणियों में डूबे इन शब्दों में अपनी पूरी मानसिकता का ब्यौरा देते हैं, "मास्टर को लगा जैसे वह कुछ स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। उसके भीतर दो धारायें एक-दूसरे को काटती हुई बही जा रही हैं, लगता है वह कहीं बहुत गहरे उलझ गया है, बिखर गया है अपने ही भीतर। वह अपने को समेट नहीं पा रहा है।"[1] सुग्गन मास्टर की टूटन वास्तविक है, न समय पर तनख्वाह, अथाह गरीबी का बोझ, ऊपर से क्वारी बेटी और इलाके की बाढ़-ग्रस्तता। जटिल अनुभवजन्य यह मानसिकता चरित्र की संश्लिष्ट पहचान उभारती है।

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ९१।

'रेणु' के उपन्यासो मे 'परती : परिकथा' के लुत्तो की पहचान भी इसी दृष्टि से दो पक्तियों मे किस प्रकार उभरती है जब वह नट्टिन टोली के कोहराम को सुन पहुँचा नही अपितु पहुँचने वाला है, लेखक पहुँचने से पहले ही पाठकों को इस तरह परिचय देता है, "....लुत्तो कांग्रसी आदमी है! जहाँ झगडा-फसाद होता रहे, वहाँ पहुँचना उसका धर्म है। कम्परमैंज करना जानता है लुत्तो!"[1] इसमें लेखक ने लुत्तो की घटिया नेतागीरी, सकीर्ण दृष्टिकोण एव उसकी पूरी मनोवृत्ति पर गहरा व्यग्य किया है जिसमे 'कम्परमैंज' शब्द प्रयोग साभिप्राय है तथा उसकी समझौतावादी दृष्टि को रेखाकित करता है।

जीवन-सन्दर्भों की नयी आहटो से गाँव के नारी-वर्ग में भी चेतना की नई आँच दिखाई पडती है। यह आँच कई पात्रों में बडे सही सामाजिक सन्दर्भों मे उभरी है। कही वैयक्तिक सबंधो से उपजी है तो कही पारिवारिक टूटनो मे दिखलाई पडती हैं। 'वरुण के बेटे' की मधुरी, 'नदी फिर बह चली' की परवतिया, 'रोष' की अनुपमा, 'मुक्तावती' की मुक्ता गाँव की होकर भी गाँव की (राजनीतिक मताधिक्य के कारण) नही लगती जबकि 'सती मैया का चौरा' की कैलसिया, 'मैला आँचल' की मलारी, 'पानी के प्राचीर' की गुलबिया, 'उग्रतारा' की उगनी, 'कुम्भीपाक' की कुन्ती, 'जाने कितनी आँखें' की सुवेगा, 'जल टूटता हुआ' की बदमी और लवगी आदि मे सघर्षशील चेतना के ततु रस-बस कर आये हैं। उनकी यह ऊष्मा अनुभवजन्य है क्योकि विविध स्तरो पर इन्होंने यातनायें स्वय सही हैं और उन्ही के बीच से अपना रास्ता बनाया है।

आंचलिक सन्दर्भों और स्वरों से रचित भाषा :

आँचलिक उपन्यासो ने जन भाषा का नवीन सर्जनात्मक प्रयोग कर सभावनाओ के नये द्वार खोले हैं तथा भाषा की दृष्टि से सर्जनात्मकता की मूल्यवान उपलब्धियो मे भी साहित्य की श्री-वृद्धि की है। पुरानी तथा निर्जीव पडती हुई भाषा को आँचलिक सदर्भों और स्वरो से नई प्राणवत्ता एवं अर्थवत्ता प्रदान की है। बदलते हुए जीवन के माहौल एव रवानगी को पकडने मे लेखक यदि कही अपने को असफल या अशक्य पाता है तो वह बिम्बों, प्रतीको एव सकेतों का तो सहारा लेता ही है, साथ ही वह प्रान्तीय, वर्गीय भाषा, बोली एव उपबोलियों का प्रदेश भी छान मारता है और उन छवियो एव समय के विशिष्ट सन्दर्भों को रूपायित करता है।

इस नये भाषिक रचाव की नई परम्परा एव प्रयोग का श्रेय भी फणीश्वरनाथ 'रेणु' और उनके 'मैला आँचल' को है जिसमें लोक जीवन (बिहार) के शब्द, मुहावरे, लोक-गीत, लोक-कथाओं की भरमार तो है ही साथ ही जीवन के विविध सदर्भों मे अग्रेजी शब्दो की मनमानी तोड-मरोड भी प्रस्तुत है। बगाली, भोजपुरी आदि की शब्द-सम्पदा स्थान-स्थान पर खूब प्रयुक्त हुई है। 'जुलूस' में तो पैराग्राफ के पैराग्राफ

१. फणीश्वरनाथ 'रेणु' : परती : परिकथा, पृ० १७७।

मे बंगाली का आधिपत्य जमा हुआ दिखाई देता है। 'रेणु' की चमत्कारी-प्रवृत्ति, शब्दों के साथ खिलवाड और प्रयोग के लिए प्रयोग ने ही वस्तुत: आंचलिक उपन्यासों की भाषा विषयक प्रयोग-वृत्ति पर प्रश्न चिह्न लगाया है। 'मैला आँचल' से लेकर आज तक आंचलिक उपन्यासों में भाषा-प्रयोग चर्चा का विषय रहा है।

स्थानीय-भाषाओं, बोलियों, उपबोलियों के शब्द-प्रयोग जब आंचलिक उपन्यासों में जीवन के आग्रहवश धरती की संवेदनाओ को, सौदर्यानुरंजित प्रदेशों की छवियों को, पात्रों की मन.स्थितियों को एवं जीवन यथार्थ की चुनौतियों को प्रकट करने के लिए आता है तो वह सर्जन की अनिवार्यता की उपज है और यदि वह मात्र भाषा के नव्य प्रयोग की सूचनात्मकता लेकर आता है, तो वह मात्र खिलवाड होता है तथा दूसरा आम-पाठकीय ग्राह्यता का अवरोधक भी। इस प्रकार के प्रयोग बार-बार खटकते हैं। आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय भाषा-प्रयोग की अनिवार्यता के विषय में इस बात से कतई इंकार नहीं किया जा सकता कि प्रदेश विशेष की मानसिकता की पूरी पिकड़, वहाँ की समूची जिन्दगी की पहचान वहाँ के मुहावरो से ही पकड़ मे आ सकती है। 'रेणु' के अलावा बलवन्तसिंह ने पंजाबी, रामदरश मिश्र, शिवप्रसाद सिंह ने भोजपुरी, शानी ने मालवी, बलभद्र ठाकुर ने मणिपुरी एवं उत्तरांचली, वृन्दावन लाल वर्मा ने बुन्देलखण्डी, राही मासूम रजा ने उर्दू और भोजपुरी, शैलेश मटियानी ने कुमाउंनी, देवेन्द्र सत्यार्थी ने असमिया तथा उदयशंकर भट्ट ने बम्बइया हिन्दी आदि का प्रयोग किया।

दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह से मुक्त होकर यदि सोचा जाय तो स्थानीय बोली, मुहावरे, लोकोक्ति, लोक-गीत आदि के प्रयोग आंचलिक उपन्यासो की सर्जनात्मक अनिवार्यता है, जिसके कारण स्थान विशेष का वातावरण एवं वहाँ के जन-जीवन की समूची संवेदनात्मक तस्वीर अपनी पूरी सहजता के साथ अंकित हो पाती है। विविध संदर्भों मे फसे पात्र अपने संवादो मे स्थानीय बोली, उपबोली के प्रयोग से ही अपनी अच्छी-बुरी पहचान उभार पाते है, जबकि अन्य भाषा यदि वे प्रयोग करें तो बड़ी अटपटी लगती है। भाषा स्थान-विशेष के लोगों की अन्तश्चेतना, उनके संस्कारों एवं उनकी अनुभूतियों से गहरे स्तर पर जुड़ी होती है, अत: उस स्थान विशेष की आन्तरिकता की पूरी पकड, उसी के सहारे संभव है। विविध स्थितियों के प्रस्तवन मे कई बार तो अभिव्यक्ति का ऐसा सकट आ जाता है कि कोश भी जवाब दे जाते हैं और मात्र बोली, उपबोली ही सहारा रह जाती हैं। बोली-उपबोलियों से परहेज की कतई आवश्यकता नहीं है यदि हमे अपनी शब्द-सम्पदा का विकास करना है। आंचलिक उपन्यासों ने निश्चित रूप से भाषायी योगदान दिया है और अभिव्यक्ति की अमित क्षमताओ के द्वार खोले है। कुछ लोग अनुवाद के सहारे स्थान-विशेष की आन्तरिकता के आस्वादन की बात भी सोचते हैं, लेकिन वे भूल जाते हैं अनुवाद तो अनुवाद है—न उसमें वे बिम्ब उभर पाते हैं और न विशिष्ट रंग, न वह गति आती है और न ध्वन्यात्मकता, वाक्य निर्मित के फन्दों में फंसा अनुवादक ध्वनि, रंग

और शब्दो की तलाश मे शब्द कोशो के बीहड जगल मे भटकता रहता है कि कैसे हा वह मूल के आसपास तो पहुँच जाये। गालियो, मुहावरो, लोकोक्तियो, लोकगीता या लोक-परम्पराओ के अनुवाद की बात तो बहुत दूर की कौडी है। अतः किसी भी दृष्टि से इनकी सर्जनात्मक अनिवार्यता को नही नकारा जा सकता।

रेणु के 'मैला आंचल', 'परती : परिकथा', 'दीर्घतपा', 'कितने चौराहे' और 'जुलूस' सभी मे सर्वत्र उनकी भाषागत चामत्कारिकता के दर्शन होते है। दरअसल 'रेणु' का सर्जक अतिशय सवेदनशील है, वह शब्दो से ध्वनियाँ उजागर कर, ध्वनियो से बिम्ब निर्माण करता है और गाँव के सामूहिक 'मूड' का पर्यवेक्षी बन जाता है। ग्राम मानसिकता की विभिन्न सश्लिष्ट पर्तों को पहचानने के क्रम मे 'रेणु' प्रयोगो की सीमा लाघ जाते है और उनकी भाषा चमत्कार-प्रदर्शन सी करने लगती है। जो भी है 'रेणु' के लोक-गीत, लोक-कथायें गाँव की सस्कृति के जीवन्त चित्र हैं जिनमे अटपटापन भी समा जाता है।

श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' की विशिष्टता उसकी व्यग्यात्मक भाषा मे है। लेखक व्यग्यो के क्रम में नये-नये आयामों को खोजता है और नयी-नयी भगिमायें बनाता है। गांव की गडबड भाषा (कृत्रिम भाषा जिसमें एक आध शब्द फालतू जोड दिया जाता है ताकि आम आदमी न समझ सके) का प्रयोग [illegible] द्वारा प्रयुक्त करा थानेदार को डरा देने की घटना हास्यात्मक चमत्कारिक तो है ही साथ ही गाँव की परख और पहचान की पूर्णता भी बताती है कि किस तरह वहाँ चुलबुलेपन मे भाषायें बनती है।

रागेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' की भाषा काव्यात्मक है तो राही मासूम रजा 'आधा गाँव' की सर्जना मे उर्दू-भोजपुरी के अत्यधिक प्रयोग मे यह भूल ही जाते है कि वे हिन्दी का उपन्यास भी लिख रहे है। भाषा का नकलीपन राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यासों मे देखने को मिलता है। 'जंगल के फूल', 'सूरज किरन की छाव' में प्रयुक्त स्थानीय भाषाओ के शब्द हिप्पियो की पोशाको मे चिपकी थेगलियाँ (Stickers) सी नजर आती है जिनकी अनिवार्यता लक्षित न होकर लेखक की चौंकाने की मजबूरी नजर आती है ताकि उसका उपन्यास उस नयी धारा मे परिगणित हो तथा उसके द्वारा बटोर कर लाये गये शब्द भी प्रयुक्त हो सकें, वस्तुत. ऐसे ही प्रयत्नो ने आँचलिक उपन्यासो की भाषा पर उँगली उठवाई है।

लोक-जीवन की विविध छवियो को उनके सही प्रतिप्रेक्ष्य मे आंकने के लिए इन उपन्यासों मे स्थानीय मुहावरो, लोकोक्तियो, लोकगीतो एव लोककथाओ आदि का सर्जनात्मक उपयोग किया है। धरती के हास और रुदन को उन्ही की भाषा मे पकडने के अभ्यासी इन लेखको मे कुछ को जहाँ अभूतपूर्व सफलता मिली है वहाँ कुछ अपने प्रयत्नो मे हल्का प्रभाव ही द्योतित कर पाये हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी, शानी, मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी आदि अपने प्रयत्नो मे जीवन मे गहरे नही पैठ सके है। 'ब्रह्मपुत्र' मे एक सास्कृतिक अवसर पर लडकियाँ तो असमिया मे गाती हैं और प्रत्युत्तर

मे लडके हिन्दी में गाते हैं। एक तो लडकों का प्रत्युत्तर वैसे ही जोड़तोड़ करके बड़ा कमजोर सा है दूसरा यदि उत्तर का प्रत्युत्तर भी उसी भाषा मे दिया जाता तो शायद प्रभावात्मक बन पाता। गीतों का सर्जनात्मक प्रयोग सबसे बढिया स्तर का रामदरश मिश्र के उपन्यासो में दिखलाई पडता है। न तो यहां 'रेणु' जैसा चमत्कार प्रयोजन है और न देवेन्द्र सत्यार्थी या राजेन्द्र अवस्थी जैसे उपन्यासकारों की ऊपर से चिपकाने की प्रवृत्ति। गीतों की अनुगूंज इनमें मनःस्थितियो की विषम आवर्तो को खोलकर नयी-नयी भगिमायें बनाती हैं तथा समय सदर्भ मे जुड़कर सस्कृति के मुरझाते रूप को भी उजागर करते है—उदाहरणार्थ 'जल टूटता हुआ' मे गीता के गीत, कूजू के गीत, बदमी के गीत, 'पानी के प्राचीर' मे फगुनौटी के गीत, चमेली और गेंदा के गीत एव विरहनो के गीत धरती की समूची सम्वेदनाओ को उजागर करते हैं।

नागार्जुन के उपन्यासो मे बिहार के लोक जीवन की भाषा का प्रयोग तो है, लेकिन उन मे सर्वत्र सपाट बयानी ही दिखलाई पडती है। ये आंचलिक उपन्यास शिल्प की दृष्टि से आंचलिक न होकर भाषा और स्थान विशेष की कथा के कारण ही आंचलिक हैं। न उनके भाषायी रचाव में संश्लिष्टता है और न प्रयोग मे अभिनवता। अन्य उपन्यासो मे 'अलग-अलग वैतरणी', 'माटी की महक', 'नदी फिर बह चली', 'बबूल', 'कोहबर की शर्त', 'अधेरे के विरुद्ध', 'बया का घोसला और सांप', 'दूब जनम आई', 'सूखता हुआ तालाब' आदि उपन्यास उल्लेख्य हैं जिनमे भाषायी प्रयोगगत अभिनवता एवं लेखकीय सचेतता दृष्टिगत होती है और लेखक बराबर सतुलन बनाये रखते है।

बिम्बों, प्रतीकों और रंगों की योजना तथा इनका पारस्परिक रचाव :

आंचलिक उपन्यासों में बिम्बों, प्रतीको, ध्वनियो, सकेतो एवं रंगो की अभिनव योजना ने अपने यथार्थ की सघन बुनावट के लिए अभिव्यक्ति के नये तकाजो को समझा है और तदनुरूप नये शिल्प की तलाश की है जिसमें अन्य उपन्यासेतर विधाओ की मिली-जुली रंगत दिखलाई पडती है। इनमे इतिवृतात्मकता, आत्मकथात्मकता, रेखाचित्रात्मकता, लोककथात्मकता के साथ रिपोर्ताज शैली, डायरी शैली, व्यग्य शैली, चेतना प्रवाही शैली, समग्र प्रभावी शैली एव फ्लैशबैक शैली आदि सभी का मिला-जुला प्रयोग किया गया है जिससे एक नये शिल्प का संधान हुआ है तथा गद्य की नीरसता की ऊब नये-नये उपमानो, नये-नये शब्द प्रयोगो, नये-नये ध्वनि-रगों से टूट नयी भगिमायें प्राप्त करती है। आंचलिक उपन्यासो में लेखकीय प्रतिबद्धता का सरोकार उसके कथ्य, समूचे यथार्थवादी परिवेश, जीवन अभावों, तज्जनित विसगतियो तथा समय की निर्मम सच्चाइयो के बीच से गुजरते मनुष्य की आन्तरिक सवेदनाओं से है।

आंचलिक उपन्यासों मे बिम्ब, प्रतीक और विविध रंगो की योजना से परिवेश की बाहरी आभा ही नहीं अपितु पात्रों के आन्तरिक-उद्वेलन एवं -उनकी मानसिक-

हलचलों का भी सिलसिलेवार ब्यौरा प्रस्तुत हुआ है। विम्बों और प्रतीकों के माध्यम से सवेदनाओ का सप्रेषण अत्यन्त प्रभावशाली होता है। यो तो संरचना के इन तत्वो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भावात्मक शैली से होता है, लेकिन आंचलिक उपन्यासो की यथार्थ-वादी शैली मे भी इनका बडा ही सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है। वातावरण चित्रण के बिम्ब, ध्वनि और गति के बिम्ब, सादृश्य मूलक बिम्ब, अमूर्त भावो के बिम्ब, मुद्रा परिवर्तन के बिम्ब तथा अन्य अच्छी-बुरी स्थितियो के बिम्ब आदि अनेक प्रकार के बिम्बो की रचना इन उपन्यासो मे हुई है। बिम्बो की भाँति प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, आलंकारिकता एव ध्वन्यात्मकता के सहारे आज की समकालीन ग्राम जिन्दगी की अनकही सच्चाइयो का उद्घाटन हुआ है जिसमें अनुभवजन्य प्रामाणिकता पर लेखकीय बल रहता है। "आंचलिकता की प्रवृत्ति भावना की भूमि पर प्रतिष्ठित होती है, क्योकि आँचलिक उपन्यासकार अचल की गहन जानकारी से प्रेरित होकर उसे गहराई से उद्घाटित करने की कामना से रचना करता है। परिणामस्वरूप विभिन्न औपन्यासिक तत्त्व आंचलिक निरूपण के अधीन हो जाते हैं। आंचलिक शैली की यही विशेषता है कि आंचलिक रंग सभी तत्त्वों को रजित करके उन्हें अचलोन्मुख कर देते हैं। सफलतापूर्वक ऐसा कर पाने मे ही आंचलिक उपन्यासकार की कला है। इस कला की सिद्धि के लिए आंचलिक उपन्यासकार औपन्यासिक तत्वों की विशिष्ट रीति से सयोजना करता है, जिससे आँचलिक उपन्यासों की प्रकृति ही बदल जाती है।"[१]

लोक-सम्पृक्ति आंचलिक उपन्यासों की एक निजी विशिष्टता है। इन उपन्यासो मे लोक-जीवन के बिम्बो, प्रतीको, शब्दो, रगो एव नये-नये उपमानो को अचल विशेष के बीच से चुनकर उन्हे नयी-नयी अर्थ-भगिमायें प्रदान की गई है। आंचलिक उपन्यासकारो मे सर्वप्रथम नाम फणीश्वरनाथ 'रेणु' का है जिन्होने अपने उपन्यासो मे बिम्बो, प्रतीको, रगो, सकेतो एव ध्वनियो आदि का बेजोड़ प्रयोग किया है। 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' काव्यरूपबन्ध 'रेणु' की गतिशील प्रयोग-धर्मिता का सभावनापूर्ण उदाहरण है। 'मैला आंचल' के रचाव मे व्यग्यात्मकता, बिम्बात्मकता, प्रतीकात्मकता का आधिक्य दिखलाई पडता है तो 'परती : परिकथा' मे ध्वनियो का सम्मिलन 'आर्केस्ट्रा' का सा वातावरण प्रस्तुत करता है। 'रेणु' जी मे ध्वनियो, रगो और बिम्बो को बनाने की अद्भुत कला है और कौशलातिरेक के कारण कई बार उनके उपन्यासो मे शैथिल्य तक व्याप जाता है। नागार्जुन के उपन्यासो मे 'रेणु' जैसी कलात्मकता नही है वहाँ या तो सपाट बयानी है या फिर अपनी प्रति-बद्धता का इजहार। कथाशिल्प प्रेमचन्द की परम्परा के आसपास ही बैठता है। आंचलिक उपन्यासो की सी सश्लिष्ट सरचना से वचित होकर भी ये उपन्यास आंचलिक ही कहलाते है। रांगेय राघव के उपन्यासों मे बिम्ब भी है, प्रतीक भी हैं, रग भी हैं, ध्वनियाँ भी हैं लेकिन आंचलिक उपन्यासो जैसा न कथा बिखराव है और

१. डॉ० आदर्श सक्सेना : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि, पृ० ३००-३०१।

न सश्लिष्टता। कथानक एक निश्चित चौसटे के आसपास ही घूमता है। 'कब तक पुकारूं' उपन्यास यद्यपि नट-जीवन के ऊपर आधारित उपन्यास है लेकिन एक विश्लेषक और चिन्तक की भाषा उपन्यास पर सर्वत्र होती है और अपने अभिजात पन में उसे दबाये रहती है और वह सहजता जो लोक सपृक्ति के साथ जुड़कर विविध बिम्ब प्रतीकों से आती है परिलक्षित नहीं होती।

राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' सघन आंचलिक उपन्यास है। गंगोली गाँव की अनेक मुखी विसंगतियां कहीं व्यंग्यों से, कहीं प्रतीकों से, कहीं बिम्बों से और कहीं ध्वनियों से उजागर हुई हैं। लेखक ने इस उपन्यास मे कई तरह के प्रयोग किये हैं, और इस प्रयोगधर्मी दृष्टि के कारण उपन्यास अपने प्रदेय में उलझ गया है। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' उपन्यास भी अपने रचाव मे हिन्दी के अन्य आंचलिक उपन्यासों की प्रकृति से हटकर है। लेखक सपाट बयानों और व्यंग्य के पैनेपन से प्रारम्भ कर अन्त तक इन्ही हथियारों से मोर्चा मारता है। बिम्ब, प्रतीक और ध्वनियां उसे अपनी यात्रा मे कम ही याद आती हैं। किसी यात्रा का इतिवृत्त हो, या मेले का वर्णन, चुनाव की विसंगतियां हों या भ्रष्टाचारी तस्वीरें, प्रेम की दास्तान हों या स्त्री-पुरुषों के निवटने का दृश्य लेखक सर्वत्र व्यंग्यात्मक ही बना रहता है और रोजमर्रा के उबाऊ प्रसगों में भी लेखक भाषा की छींटाकशी से कुछ जान फूंक देता है।

रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ' सामाजिक जीवन के अनेक प्रसंगों और मनःस्थितियों को रूपायित करने वाला उपन्यास है जिसकी मुख्य वृत्ति ही बिम्बात्मक है। इसके नाम से लेकर अन्त तक प्रतीकों, बिम्बों, ध्वनियों, सकेतों एव विविध रंगों का ऐसा सघन रूपायन लेखक ने किया है जो अपने स्थान की उत्कृष्टता को अलग ही द्योतित करता है। तीव्र सवेगों एवं सघन अनुभूतियों से रचे अनुभव-बिम्ब समय और परिस्थितियों से सीधा साक्षात्कार करते है। लेखक शैली और विषय के पारस्परिक संबंध को बखूबी समझता है और इसी कारण कहीं उपन्यास मे वर्णन-प्रवाह है, तो कहीं बिम्बों के आवर्त्त, कहीं इकहरी मनःस्थितियों के चित्र हैं तो कहीं जटिल बिम्ब, कहीं फंटेसी प्रयोग मे ली है तो कहीं गीत की पंक्ति से ही निर्वाह किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यासों को तीन दृष्टियों से उपलब्धि माना जा सकता है। एक तो इन्होंने विभिन्न भूभागों के अनुभव बिन्दुओं पर स्थित होकर स्वाधीनता परवर्ती विराट भारतीय जीवन की वास्तविक शक्ति और अशक्ति को, समस्याओं और प्रश्नों को, मूल्यों और सम्बन्धों को परिस्थितिगत और चेतनागत अनेक आवर्तों को रूपायित कर अपने देश और समाज के यथार्थ के प्रति रचनात्मक दायित्व का निर्वाह किया है, दूसरे इन्होंने नवीन औपन्यासिक-सरचना प्रदान की है तीसरे इन उपन्यासों ने जनभाषा, बोली, उपबोलियों का भी नवीन सर्जनात्मक उपयोग किया है।

मैला आँचल :
फणीश्वरनाथ 'रेणु'

फणीश्ववनाथ 'रेणु' का मैला आंचल' उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की सृजन-यात्रा का प्रारम्भ है। यह ऐसा विशिष्ट प्रारम्भ है जिसने एक तो एक नयी विधा का नामकरण किया और दूसरा उसी विधा मे ऐसी कृति साहित्य को दी जिसने अछूती दुनिया का कोना ही उजागर नही किया अपितु नये प्रश्नो, नयी सम्भावनाओ एव नयी दिशाओ का सन्धान किया। सम्वेदना और शिल्प के नये आयाम उद्घाटित किये। 'मैला आंचल' पूर्णिया जिले के एक गांव मेरी गज (जो अत्यधिक पिछडा हुआ है) की मैली-जिन्दगी का वह दस्तावेज है, जिसमें जीवन के बहुआयामी अन्तर्विरोधी सूत्रों का बेलाग एव सश्लिष्ट वर्णन है। लेखक स्वय भी कहता है कि, "इसमे फूल भी हैं शूल भी हैं, धूल भी है गुलाल भी है, कीचड भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी—मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नही पाया।"[१] लेखकीय वक्तव्य मे यह स्पष्ट है कि उसने गाँव को समग्र भाव एव यथार्थ-वादी दृष्टि से देखा है जिसमे न पूर्वाग्रह है और न दुराग्रह, न वर्गों की हिमायत है और न किसी वर्ग विशेष की काट, समय सन्दर्भ मे लक्षित होने वाली सारी मिठास और कड़वाहट को उभरते नये सम्बन्ध और मूल्यबोध को एक समीपी द्रष्टा की भाति निरखा-परखा है।

'मैला आंचल' के कथानक का प्रारम्भ मेरीगज गाँव मे अस्पताल खोलने के सिलसिले मे आये डिस्ट्रिक्ट वोर्ड के सदस्यो के आगमन से होता है, और अन्त गांव के गाधीवादी नेता बावनदास की मृत्यु से। दो-तीन वर्ष के लघु अन्त-राल मे फैली मेरीगज गाँव की कथा बनती-बिगडती सामाजिक जिन्दगी, फैलती राजनीतिक चेतना, उभरते नये सम्बन्ध-बोध, नैतिक-अनैतिक स्थितियो, लोक-जीवन की सुन्दर-असुन्दर छवियो एव गाँव मे आ रहे संस्थानिक बदलाव आदि को बडे ही सूक्ष्म एवं सश्लिष्ट ढग से अभिव्यक्त करती है। कथा के विविध सदर्भ, छोटे-मोटे प्रसग एव विभिन्न घटनाएँ परस्पर इस तरह अनुस्यूत होती है कि एक-दूसरे के अस्तित्व मे एक-दूसरे का हित-अहित छिपा रहता है। अत: कहा जा सकता है कि इनमे परस्पर अन्तर्ग्रन्थन एवं सगुफन है। उदाहरणार्थ गाँव मे आये जमीन की जांच-पड-

---

१. फणीश्वर नाथ 'रेणु': मैला प्रांचल (भूमिका से)।

ताल करने वाले सरकारी दल को लिया जा सकता है। इस छोटी-सी घटना मे कही ग्रामीणो का अद्‌भुत भय दिखाई देता है, कही नेताओ का नकली चरित्र, कही गांव के अशिक्षाजन्य सस्कार दिखाई पड़ते हैं तो कही भ्रष्टाचारी तहसीलदार की तिकडमी हरकतों का बोध होता है तथा पारस्परिक विरोध एव वैमनस्य की तो बात ही क्या है ? स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आसपास ग्रामीण मानसिकता किस प्रकार आन्दोलित रहती है, किस तरह अपने विविध कार्यों मे 'रियेक्ट' करती है इस सबका प्रामाणिक लेखा-जोखा तो उपन्यासकार ने दिया ही है, उसकी विशिष्टता इस बात मे है कि लेखकीय दृष्टि सदैव मानवीय तरलता से ओत-प्रोत रही है।

'मैला आँचल' का मेरीगंज गाँव राजनीतिक चेतना-सपन्न गाँव है। गाँव के सीमित कलेवर में देश के विशाल फलक पर घटने वाले राजनीतिक क्रियाकलापो की छाया दिखलाई पडती है। लेखक की व्यंग्यविधायिनी शक्ति ने गाँव मे फैले पारस्परिक वैमनस्य, आपसी रागद्वेष, एक-दूसरे की टकराहट एव विभिन्न अतिवादिताओं का बडा ही निर्मम उद्‌घाटन किया है, और इस उद्‌घाटन की विशिष्टता इस बात मे है कि लेखक कटु से कटु व्यंग्य, सश्लिष्ट से सश्लिष्ट स्थितियाँ उत्पन्न करता है, लेकिन यत्किंचित् भी अपने को किसी दल विशेष के साथ नही बाँधता। हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासो की तो वस्तुतः यह एक ट्रेजेडी है कि लेखक स्वय किसी न किसी दल का प्रचारक, समर्थक या पक्षधर बनकर रचनायें करते हैं और यही कारण है कि वे रचनायें सवेदनाओं की तरलता से विहीन होकर दल विशेष का प्रभावहीन चिठठा बनकर रह जाती हैं। रेणु' ने बडे ही सतुलित ढग से गाँव की घुटनभरी जिन्दगी की कसमसाहट व्यक्त की है और उसकी तटस्थता एव निर्वैयक्तिता के कारण कही हम कांग्रेसियो के कुचक्रो पर नाराज होते हैं, तो कही जनसघियो के बनावटी चेहरो पर, कही कम्युनिस्टो के बेमतलब विरोध पर खीझते है तो कही समाजवादियो के गरमा-गरम प्रोग्रामो मे प्रसन्न हो उठते हैं। जनता से कटते हुए, अपने दलीय स्वार्थों मे लिपटे हुए इन दलो के सकीर्ण दायरो की खोज करते हुए लेखक ने शहरो से परिचालित अविवेक-पूर्ण गन्दी राजनीति पर गहरे एव सश्लिष्ट व्यग्य किये हैं। बावनदास ग्राम-जीवन मे आई जातिवाद की भावना का मूल उत्स बडी राजनीति का अंग मानता है। उसकी बात बडी प्रामाणिक और अनुभवजन्य है, वह बालदेव से ठीक ही तो कहता है, "सब चौपट हो गया"'यह बेमारी ऊपर से आयी है। यह पटनियाँ रोग है।'''अब तो और धूमधाम से फैलेगा।'''भूमिहार, रजपूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड़ रहे हैं ''अगले चुनाव मे तिगुना मेले चुने जायेंगे।। किसका आदमी ज्यादे चुना जाए, इसी की लडाई है। यदि रजपूत पार्टी के लोग ज्यादा आएँ तो सबसे बडा मत्री भी रजपूत होगा'' परसो बात हो रही थी आश्रम मे। छोटन बाबू और अमीन बाबू बतिया रहे थे, गाँधी जी का भसम लेकर समाक जी आवेंगे। छोटन बाबू बोले, जिला का कोट भसम जिला सभापति को ही लाना चाहिए।'''ससाक जी क्यों ला रहे है। इसमे बहुत बड़ा

आग भर रहा है, उनको जगा रहा है, ताकि ये लोग भी अपने हक के रूप को पहचानें। गाँव में सभायें आयोजित करता है, इंकलाब के स्वर फूँकता है। किसान और मजदूर राज कायम करने संबंधी अनेक नारों से गाँव में चेतना फूँकता है। सभा में गरमागरम भाषण होते हैं, "यह जो लाल झंडा है, आपका झंडा है, जनता का झंडा, आवाम का झण्डा है, इंकलाब का झन्डा है। इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है, यह खुद आफताब है। इसकी लाली, इसका लाल रंग क्या है? यह गरीबों, महरूमों, मजलूमों, मजबूरों, मजदूरों के खून में रंगा हुआ झंडा है।" जमीनों पर किसानों का कब्जा होगा। चारों ओर लाल धुआँ मडरा रहा है। उठो किसानो, किसानों के सच्चे सपूतो! धरती के सच्चे मालिको उठो! क्रान्ति की मशाल लेकर आगे बढो।"[1] गाँव का निम्न-वर्ग लाल झंडे के प्रति प्रतिबद्ध हो रहा है तो दूसरी ओर काली टोपी (जनसघ) के संयोजक लाठी भाला चलाने की शिक्षा दे रहे हैं। हरगौरी सिंह गाँव में जनसघ की आवश्यकता समझता है ताकि उच्च वर्ग के लोगों के हित भी सुरक्षित रह सकें। धर्म और सस्कृति उनका प्रबल और छद्म नारा है। सारा मेरीगज विभिन्न पार्टियों का रंगस्थल-सा बन गया है जो एक 'मिनी भारत' की पहचान उभारता है जिसमें कहीं लोग पैसे के आकर्षण से आकृष्ट हो रहे हैं, कहीं जातीयता उन्हें अपनी ओर मोड रही है, तो कहीं वर्ग-सघर्ष के आकर्षक नारे राजनीतिक आधार प्रदान कर रहे हैं। नये वर्गों के इस उदय में राजनीतिक दलीय प्रतिबद्धता भी अधकचरे रूप में उभर रही है। जमींदारी उन्मूलन जैसे विकास-कार्य भी दलीय प्रतिबद्धतावश प्रभावहीन तक कहे जाते हैं।

मेरीगज गाँव के यौन-सबंधो के चित्रण में लेखकीय दृष्टि किसी रोमानी सस्कार की शिकार दृष्टिगत नहीं होती अपितु उसके चित्रण से यही जाहिर होता है कि यह हमारे सामाजिक जीवन की भोगी हुई विसंगतियों पर व्यंग्य कर हमें उसके मूलभूत कारणों की ओर सोचने के लिए विवश कर रहा है। मेरीगज में माँ-बाप अपनी बेटी के अनैतिक सम्बन्धों और कृत्यों को जानते हुए भी मौन हैं। लेकिन पड़ोसी रमजूदास की पत्नी को यह बात अच्छी नहीं लगती। फुलिया और खलासी जी की हर बात का उसे पता है। खुद फुलिया ही वास्तव में उसे बताती है कि कलकलां को कुछ हो गया तो चमारिन की भी खुशामदें करनी पड़ेंगी। लेकिन माँ-बाप हैं कि आर्थिक मजबूरियों में इस तरह फँसे हैं कि उन्हें यह गलीच यथार्थ भी स्वीकार्य है। रमजूदास की पत्नी तो फुलिया के माँ-बाप को यहाँ तक कहती है कि, "तुम लोगों को न तो लाज है और न शरम। कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारी वाली साडी चमकाओगी? आखिर एक हद होती है किसी बात की। मानती हूँ कि जवान बेवा बेटी दुधार गाय के बराबर है। मगर इतना मत दूहो कि

---

१. फनीश्वरनाथ 'रेणु': मैला आँचल, पृ० १०६।

देह का खून भी सूख जाय।"[1] इस कथन मे जहाँ नारी सुलभ उलाहना है वहाँ एक वास्तविकता भी है, जो न चाहते हुए भी परिस्थितिवश स्वीकारनी पडती है। गाँव के सहदेव मिसिर भी अपने अनैतिक व्यवहार के कारण तन्त्रिमा टोली मे रात भर बँध कर काटते हैं। मेरीगज का मठ तो अनैतिकता का अड्डा ही बन जाता है और मठ की कोठारिन लक्ष्मी पर एक नही तीन-तीन महत अपनी महती का अधिकार जताते हैं। मठ के पुराने महत के उत्तराधिकारी नये महत रात को चुपचाप अँधेरे मे, बडी तरकीब से अन्दर की चटखनी खोल जब लक्ष्मी के पास अपनी वासना की प्यास बुझाने को प्रस्तुत होते हैं तो चाँटे खाते हैं और धक्के से गिर जाते हैं और खिसियानी *बिल्ली की तरह उल्टी-सीधी गाली देकर अपनी भडास निकालते हैं। लगता है सारे* गाँव की सामाजिक जिन्दगी मे नैतिकता की अवधारणा टूट रही है, कही मजबूरीवश कही किन्ही और कारणोवश तभी तो नोखे की स्त्री का रामलगन सिह के बेटे से, उचितदास की बेटी का कोयरी टोली के सरन महतो से, तहसीलदार हरगौरी सिह का अपनी मौसेरी बहिन से, बालदेव जी का लक्ष्मी कोठारिन से, और नेता कालीचरण का चर्खा स्कूल की मास्टरनी से अवैध यौन-सबध हैं। इस तरह गाँव की विभिन्न अनैतिकताजन्य मैली स्थितियो के रूपायन करने मे अपने नाम की सार्थकता स्पष्ट करता हुआ लगता है।

'रेणु' की दृष्टि मे मेरीगज गाँव की बीमार आर्थिक जिन्दगी के दो रोग है—बेकारी और गरीबी जिनके कारण सारा गाँव विभिन्न जडताओ एव अभावो का भयानक शिकार है। वस्त्रो के अभाव मे यहाँ निमोनिया से रोगी पुआल मे सिर छिपाते है, छाती पर कफ की भीषण जकडन लिए जिन्दगी से जूझते सिसकते तिल-तिल टूटते है, चारो ओर भूख और बेबसी से लोग छटपटाते है। जमीदार खटमलो की भाँति इस गरीब वर्ग को चूसते हैं। डाक्टर प्रशान्त गाँव की इस फटेहाली पर अन्दर ही अन्दर अनुत्तरित प्रश्नो की यातनायें झेलता है। यहाँ गरीब लोग आम की गुठलियो के सूखे गूदे की रोटी पर जिन्दा है। यह गरीबी बहुत कुछ बेकारीजन्य है जिसने गरीबो को रोने-सिसकने के लिये बाध्य तो किया ही है साथ चेतना भी प्रदान की है। उनकी मजबूरियो ने उन्हे कहने को बाध्य कर दिया है। रामकिरपाल सिह का हलवाहा मजदूरी की माग स्पष्ट करता है। चर्खा-सेन्टर के रूप मे लघु उद्योग और एक जूट मिल खुलने का समाचार गाँव की आर्थिक विसगतियो की ओर एक राहत वाला कदम दिखलाई पडता है, लेकिन राजनीति इन्हे भी ग्रस लेती है। गाँव मे भूमि के लिए जमीदारो और सथालो का सघर्ष मुख्य सघर्ष है। लेखक इस सघर्ष मे विविध प्रकार से अपनी मानसिकता मे डाक्टर प्रशान्त के रूप मे उनके साथ दिखाई देता है। सथालो का सघर्ष मे हारना तो जमीदारी तिकडमो का यथार्थ परिणाम हो सकता है लेकिन जिस प्रकार लेखक ने तहसीलदार के मन मे हीन प्रवृत्ति को उपजा

१. फणीश्वरनाथ 'रेणु', मैला आँचल, पृ० ६२-६१।

कर समस्या का हल दिया है वह बहुत कुछ सपाट और आदर्शात्मक है, जो 'रेणु' जैसे लेखक को जो अन्तर्विरोधों को सश्लिष्ट अभिव्यक्ति देते है नहीं रुचता।

'मैला आंचल' का रचना-विधान मिश्रचयन की प्रणाली पर आधारित सश्लिष्ट रचाव लिए एक अभिनव प्रयोग है। "उपन्यासकार एक ही साथ अनेक परस्पर लिपटी तहो, अनेक गुंथे हुए प्रसंगों, अनेक सश्लिष्ट मूल्यों और बोधो तथा अन्तर्विरोधो को सूक्ष्मता, सांकेतिकता एव व्यंग्यात्मकता से उभारने मे समर्थ होता है। लेखक को अपनी ओर से कुछ नही कहना पडता। प्रसगों, परिस्थितियो और मन.स्थितियो की नाटकीय पारस्परिकता ही सारी विद्रूपता, सुन्दरता और जटिलता को ध्वनित करती चलती है।"[1] विभिन्न कथारेशो में मेरीगज अपनी समग्रता एव बारीकियों को समाहित करके जटिलता प्राप्त करता गया है। वस्तु-सरचना की इस रीति मे विभिन्न प्रसग, विभिन्न घटनावलियाँ, परस्पर मिलकर नये-नये चित्र बनाती हैं और ये सभी चित्र ग्राम-जीवन के एक समग्र रूप को उजागर करते हैं। अत डा० वार्ष्णेय का यह कथन समीचीन नही लगता कि, "सारा कथानक न्यूज रील की भाँति इतनी तेजी से घूमता रहता है कि कोई दृश्य अपना स्थायी प्रभाव नही छोड पाता।"[2] अभिव्यक्ति के नये शिल्प मे गुँथी रिपोर्ताज वृत्ति कई बार गोष्ठी-सुख जैसा आनन्द भी देती है। नेमिचन्द्र जैन को 'मैला आंचल' अनगिनत रेखाचित्रों का पुंज लगता है, जिसमे सबल चित्र तो हैं पर कथा प्रवाह सूत्रता का अभाव दृष्टिगत होता है। वास्तविकता जबकि यह है कि 'मैला आंचल' या अन्य आंचलिक उपन्यासो का रचनात्मक स्वभाव ही ऐसा है सश्लिष्टता उनका एक आवयविक गुण है। इन उपन्यासो में बिखरे हुए प्रसंग, बिखरी हुई घटनायें बिखरे हुए पात्र एक-दूसरे के सर्जन मे अपरिहार्य रूप से योग दिये बिना आते हैं और अपनी नियति झेल चले जाते हैं और एकसूत्रता मे नही बँधते क्योंकि उनका उद्देश्य अंचल का समग्र बोध कराना होता है।

'मैला आंचल' मे मेरीगज गाँव अपनी आडी-तिरछी रेखाओं मे अपने परिवेश के जटिल और यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करता है। गाँव का गाँव अपनी स्थानीय सघनता को विभिन्न लोकोपकरणो के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। मेरीगज के ही स्थितिचित्र को देखिये, "रौतहट स्टेशन से सात कोस पूरब, बूढी कोशी को पार करके जाना होता है। बूढी कोशी के किनारे-किनारे बहुत दूर तक ताड़ और खजूर के पेड़ो से भरा हुआ जगल है। इस अचल के लोग इसे 'नवाबी तडवन्ना' कहते हैं। किस नवाब ने इस ताडवन को लगाया था कहना कठिन है। लेकिन वैशाख से लेकर आषाढ तक हलवाहे चरवाहे भी इस वन मे नवाबी करते हैं। तीन आने लबनी ताडी, रोक साला मोटर गाडी ! अर्थात् ताडी के नशे मे आदमी मोटर गाड़ी

---

१. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १६६।

२. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लेख, पृ० २८२ (डा० सुषमा प्रियदर्शिनी द्वारा सम्पादित-पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास' मे समाहित)

को भी सस्ता समझाता है। तहयन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान है, जो नेपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खत्म हुआ है। लाखों एकड़ जमीन। वन्ध्या धरती का विशाल अचल। इसमें दूब भी नहीं पनपती है। बीच-बीच में बालूचर और कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ। कोस-भर मैदान पार करने के बाद पूरब की ओर काला जंगल दिखाई पड़ता है; वहीं है मेरीगंज कोठी।"[१] गाँव के इस स्थिति चित्र में वहाँ की भौगोलिक स्थितियों की समग्रता, ऐतिहासिकता एवं सम्पूर्णता के साथ वहाँ के जीवन के सभावों अभावों की वृहद गाथा भी जुड़ी है जिसकी प्रतीक है लाखों एकड़ वध्या धरती की बीच-बीच में बालूचर और उत्पादनता के नाम पर कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ। 'मैला आंचल' में इस भूखण्ड के प्राकृतिक परिवेश की अन्य लोकतत्त्वों की समन्विति भी प्राप्त है। लेखक ने विविध स्थलों पर कहीं गीतों से, कहीं लोक-कथाओं से, कहीं लोक नृत्यों से, कहीं हवा की साँय-साँय से, कहीं धरती की सोंधी गन्ध से और कहीं लोकभाषा की अनगढ़ राह से ग्रामीण परिवेश और उसके यथार्थ को नयी-नयी भंगिमायें प्रदान की हैं।

'मैला आंचल' की पात्र-सृष्टि भी नव्यता लिये हुए है। लेखक की दृष्टि पात्रों के व्यक्तित्व उद्घाटन में प्रवृत्त न होकर मेरीगंज के यथार्थ को उजागर करने में सलग्न है। यहाँ न कोई नायक है, न कोई खलनायक, पात्र लेखकीय आवश्यकता का निर्वाह करने आता है और चला जाता है। कोई पात्र आदि से अन्त तक आवश्यक है तो कोई मात्र कुछ क्षण ही। समय की अवधि उन्हें विशिष्ट और सामान्य में नहीं बाँटती। विशिष्ट भूभाग की व्यक्तित्व निर्मिति ही इनका लक्ष्य है और उसी को चित्रित करने के लिए विभिन्न छोटे-बड़े पात्रों का नियोजन हुआ है। लेखक ने समस्त पात्रों को अपने परिवेश की मिट्टी से गढ़ा है। गाँव का बावनदास राजनीति को अपना बलिदान देकर उच्च मूल्य प्रदान करता है। डाक्टर प्रशान्त कमली, मौसी, और गनेश के प्यार से अभिभूत होकर गाँव के रोगों की जड़ों का निदान करता है। कालीचरण, वासदेव, बालदेव, रामनिहोरा आदि राजनीति से विकृत चेहरों को लिए गाँव में अपना उल्लू सीधा करते फिरते हैं। गाँव की फुलिया, सहदेव मिसिर, खलासी और पटमैन के साथ शारीरिक लीलायें कर गाँव के नैतिक बोध को तो तोड़ती ही है अपनी मजबूरियाँ को भी व्यक्त करती है, साथ ही एक व्यंग्यात्मक चरित्र है। मौसी का चरित्र सामाजिक विसंगतियों से आहत-उपेक्षित होकर भी अपनी करुणा और त्याग से मोह लेता है। लेखकीय कौशल का परिणाम है कि उपन्यास के दानवीय पात्र भी इस प्रकार परिस्थितियों की जकड़न में फँसते हैं कि उनके अन्तर्गत तरलता और मानवीयता के दर्शन होते हैं। लेखक की व्यंग्य-विधायिनी क्षमता एवं मानवीय तरलता ने कई-कई पात्रों को बड़े बढ़िया रूप में अंकित किया है जो पाठक को आकर्षित किये बिना नहीं रहते। मठ के महंत सेवादास, कोठारिन

---

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु' : मैला आंचल, पृ० १३।

मैला आँचल

लक्ष्मी, चेला रामदास, रमपिरिया और नागा बाबा के चित्रण मे लेखक की व्यंग्य-वृत्ति ने बड़ा कौशल दिखलाया है। ये पात्र कहीं पाठकीय रुचि को क्रोध मे आन्दोलित करते हैं तो कहीं द्रवित, विभिन्न परिस्थितियों की वर्तुल भवरो मे फँसे ये पात्र यथार्थ की विविध छवियो को ही उजागर करते हैं। नागा बाबा को कालीचरण द्वारा मार कर खदेड़ना या मार्टिन का मेरीगंज की गलियों मे पागल होकर भटकना पाठक के मन पर कुछ अचकचा प्रभाव ही छोड़ते हैं यद्यपि यह मार्टिन वही है जो किसानो के मुह से 'मेरीगंज' नाम के संबोधन को सुनकर उन्हे बुरी तरह पिटवाता है। रामखेलावन, बालदेव, जोतिखी काका, कालीचरण, रामकिरपाल सिंह, कमला, फुलिया, मंगला देवी आदि विभिन्न पात्रो मे मानवीय चरित्र की तरलता ही दृष्टिगत होती है। इतना निश्चित कहा जा सकता है कि लेखक ने दो-एक पात्रों को छोड सभी के अंकन मे तटस्थता बरती है, उनके कार्यों के अनुसार उन्हें चेहरे प्रदान किये हैं तथा ग्रामीण यथार्थ के विभिन्न बिंदुओं को बड़े कलात्मक ढग से स्पर्श कर परिस्थितियो का संयोजन किया है जिसमे न तो चरित्रगत अस्वाभाविकता ही लगती है और पाठक भी द्रवित हो उठता है। 'मैला आँचल' मे डाक्टर प्रशान्त एव तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद ऐसे दो पात्र हैं जिनकी ओर उँगली उठायी जा सकती है। ये दोनो पात्र कथा-नियोजन मे विशिष्टता तो प्राप्त करते ही हैं साथ ही बेबसी और भूख की दुनिया मे अभिजात वर्ग के होकर भी पाठको की सहानुभूति अर्जित करते हैं। इससे लगता है 'रेणु' के हृदय मे इस वर्ग विशेष के लिये कोई ऐसा विशिष्ट 'सोफ्ट कॉरनर' है, जो जाने-अनजाने उनके हर उपन्यास मे किसी-न-किसी पात्र के माध्यम मे प्रकट होता है अन्यथा गाँव के समग्र जीवन की कथा कहने वाले उपन्यासकार को, उसके विशिष्ट पात्रों को उसी धरती के बीच से चुनना चाहिए ताकि धरती की हर धुअन का वह प्रामाणिक बयान दे सकें।

आँचलिक उपन्यासों के प्रारभ का श्रेय और भाषा-सम्बन्धी आक्षेपों का जन्म उनकी इसी कृति 'मैला आँचल' से हुआ है। मेरीगज के ग्रामीण यथार्थ को अभिव्यक्त करने में वे सर्जनात्मक अनिवार्यता की लक्ष्मण रेखा को लाघ चमत्कारी-प्रदर्शन प्रवृत्ति तक पहुँच गये हैं। शब्दों की तोड़-मरोड़ मे स्वाभाविकता का परिमाण आनुपातिक दृष्टि से काफी कम रह गया है, उदाहरणार्थ उनके शब्द प्रयोगो को देखा जा सकता है जैसे—'पण्डित' के लिए 'पन्डित', 'पंट्रोमेक्स' के लिए 'पच लैट', 'ड्राइवर' के लिए 'डरेभर', 'थियेटर' के लिए 'ठेठर' 'मूवमेंट' के लिए 'मोमेंट', 'वाइस चेयरमैन' के लिए 'भैंस चेयरमैन', हाइकोर्ट के लिए 'है कोट', 'संचालक जी' के लिए 'सचालम जी', 'इनकलाब जिन्दाबाद' के लिए 'इनिकलास जिन्दाबाद' आदि। वस्तु-स्थिति यह है कि पहले तो इतने अंग्रेजी शब्द ग्रामीण जीवन में प्रचलित हैं ही नहीं, दूसरे उनका यह देशज रूप बहुत कुछ 'रेणु' जी के कलात्मक मस्तिष्क की उपज है। विभिन्न अवसरों पर ध्वनियों का सागर लहरा देना भी पाठक को अटपटा लगता है। समस्त उपन्यास मे बंगला, भोजपुरी खूब और यत्किंचित् अंग्रेजी शब्द सपदा का प्रयोग

पाठक को खलता है। सर्जनात्मक अनिवार्यता का जहाँ तक प्रश्न है कुछ पात्र ऐसे हो सकते हैं जो स्थानीय बोली बोलें, कुछ घटनायें ऐसी हो सकती हैं जहाँ यह बोली अत्यन्त आवश्यक लगे, लेकिन पग-पग पर चौंकाने वाले भाषिक प्रयोग लेखकीय प्रयोगशीलता पर ही प्रश्नचिह्न उभारते हैं। 'रेणु' जी के शब्द-युग्म बड़े स्वाभाविक बन पड़े हैं जो बातचीत को जीवन से जोड़ते हैं जैसे खर-खजाना, पर-पचायत, जर-जमीन आदि। लेखक ने वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, साकेतिक-सूक्ष्म एव व्यग्यात्मक आदि विविध शैलियो का अभिनव मिश्रित प्रयोग किया है। कई-कई प्रसगो का पारस्परिक एव एक साथ सग्रथन लेखक की शैली विषयक जागरूकता और गतिशीलता का परिचय देता है। गाँव की दो स्त्रियों की पारस्परिक लड़ाई मे प्रयुक्त भाषा का एक रूप द्रष्टव्य है, "रे सिघवा की रखेली ! सिघवा के बगान का बम्बै आम का स्वाद भूल गई। तड़बन्ना मे रात-रात भर लुकाचोरी मे ही खेलती थी रे ? कुरअखा बच्चा जब हुआ था, तो कुरअखा सिघवा से मुह-देखौनी मे बाछी मिली थी, सो कौन नही जानता।"[१] गवई औरतो की लड़ाई का चित्र तो इसमे है ही, इसकी व्यग्यात्मक वृत्ति मुख्य है। एक औरत दूसरी से बदला लेने, वाक्य-बाण चुभाने मे कोई कसर बाकी नही रखती। तरबन्ना, बम्बै, लुकाचोरी, 'कुरअखा' 'मुह देखौनी' आदि शब्द बिहार के लोक जीवन के शब्द हैं, जो इस बात के साक्षी हैं कि किस प्रकार सारे उपन्यास मे स्थानीय बोली, उपबोलियो के शब्दो का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है।

'मैला आंचल' मे 'रेणु' ने ध्वनियो, प्रतीकों, बिम्बों एव विविध रगो का सयोजन बड़े ही कलात्मक ढग से प्रस्तुत किया है। कही-कही तो इन सबका बाहुल्य इतना बढ जाता है कि चमत्कार-सा लगने लगता है। खजड़ी की 'झम-झम', ढोलक का 'टाक ढिन्ना', अखाड़े के 'आ आ अली', 'नन्हे कमल के ऐं हे ऐ हे आ आ', बैल-गाड़ी की कट-कर्रकट, घोड़े की हि हि हि हिं हि हिं आदि छोटी-छोटी ध्वनियाँ भी लेखकीय कर्ण-कुहरो ने सुनी है तभी तो गाँव के विविध सदर्भों मे ये ध्वनियाँ उजागर हुई हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक ही कहा है, " 'रेणु' के पास तो ध्वनि-यन्त्र है, जिनके माध्यम से उन्होंने इस अचल की गायो की आवाज, पेड़-पत्तो के हिलने की ध्वनि, नाक सिड़कने और छीकने की आवाजें, हँसुलियो और झाझनो के बजने, कगनो की खनक तक मूर्त कर दी है।"[२] लेकिन इन सबके अतिरेक ने कृत्रिमता की ही सृष्टि की है। स्वर-सव्यूहन का शोर सारी कृति मे आद्योपान्त व्याप्त है जिसने कृति की सर्जनात्मकता को नकली तेवर तो प्रदान किये ही हैं उसकी शक्ति को भी कमजोर किया है। इन सबके अतिरिक्त सूरज का श्याम-सलोनी सध्या के आँचल मे मुह छिपाना, कुछ मटमैली कुछ सिंदूरी-सी पृष्ठभूमि मे फैली हुई ताड़ पक्तियो का गर्दन ऊँची करके सूरज को अतल गहराई मे डूबते देखना, गुल मुहर के लाल लाल फूलों का बुझना अमलताम की पीली ओढनी का न जाने कब सरक जाना, कफन जैसे

---

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु', मैला आँचल, पृ० ८३।

२ उद्धृतकर्त्री कुसुम शोरट : फणीश्वरनाथ 'रेणु' की उपन्यास-कला पृ० १२।

सफेद बालू भरे मैदान मे धानी रग की बेल का उभरना, उत्साह् का स्प्रिट की तरह उड जाना, मटमैली अंधियारी मे कोठी के बाग का ठिठक कर प्रतीक्षा करना, प्यार की खेती करना, आँसू से भीगी धरती पर प्यार के पौधों का लहलहाना आदि असख्य प्रयोग हैं जो कही बिम्ब बनाते हैं, कही रग भरते हैं, तो कही पारस्परिक रचाव मे सवेदनाओं की सघन बुनावट को रूपायित करते हैं। 'रेणु' की वस्तून्मुखी दृष्टि बडी पैनी है, उनकी लेखनी की धार पर एक-एक चित्र साकार हो उठता है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति का एक उदाहरण है जिसके माध्यम से डाक्टर प्रशान्त की मन स्थिति का ब्यौरा मिलता है, "वेदान्त, भौतिकवाद, सापेक्षवाद, मानवतावाद। हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याध के तीर से जख्मी हिरण शावक-सी मानवता को पनाह कहाँ मिले ?···हा हा हा ? अट्टहास ! व्याधों के अट्टहास से आकाश हिल रहा है। छोटा-सा, नन्हा-सा हिरण हाँफ रहा है। छोटे फेफड़े की तेज धुक-धुकी !'' नीलोत्पल ! नही ! यह अधेरा नही रहेगा। मानवता के पुजारियों की वाणी गूंजती है—पवित्र वाणी ! उन्हें प्रकाश मिल गया है। तेजोमय ! क्षत-विक्षत पृथ्वी के घाव पर शीतल चदन लेप रहा है।''[1] हिंसा से जर्जर प्रकृति का रोना, व्याध के तीर से जख्मी हिरण-शावक-सी मानवता को पनाह न मिलना, व्याध के अट्टहास से आकाश का हिलना, नन्हे से हिरण का हाँफना और उसकी तेज धुकधुकी का चलना, अँधेरे का मिटना, मानवता की राह का मिलना तथा पृथ्वी के घावो पर चदन का लेप करना आदि ऐसे उत्स हैं, जिन्होंने उस सश्लिष्ट चित्र मे मानवता का गहरा रूप उजागर किया है।

अतः कहा जा सकता है रेणु की औपन्यासिक सरचना मे गुथी उनकी काव्यात्मकता का स्वाद वही पाठक ले सकता है जिसमे तितली की भाँति फूल की परख और पहचान के साथ धैर्य की सकल्पना भी हो, जो फूल के मर्म पराग के लिए फूल पर बैठती है, ठहरती है और रसपान करती है। इसी तरह रेणु का एक-एक शब्द प्रयोग ठहराव चाहता है ताकि ध्वनियों, बिम्बो, प्रतीको, वक्रताओ एव नाटकीय छवियो-चुछवियों आदि का रचाव अपनी नयी-नयी प्रभाव भगिमायें बनायें।

---

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु' : मैला आँचल, पृ० ३३२-३३३।

वरुण के बेटे :

नागार्जुन

'वरुण के बेटे' नागार्जुन का छठा आंचलिक उपन्यास है। नागार्जुन प्रगतिशील चेतना के कथाकार है। उनके उपन्यास एक विशिष्ट अर्थ मे ही आंचलिक है। उनकी कथा एक अचल से तो ली जाती है लेकिन आंचलिक उपन्यासो की भांति उनमे एक विशिष्ट भूभाग की समूची सश्लिष्ट जिन्दगी की अभिव्यक्ति नही होती। नागार्जुन अचल के सश्लिष्ट जीवन की कथा कहने के स्थान पर अचल से लिये गये पात्र की कहानी कहते हैं। अधिकतर यह कहानी सपाट वर्णनात्मकता लिए होती है। अचल विशेष मात्र उस कथा को परिवेश प्रदान करता है। यह परिवेश आंचलिकता की तीन छायायें लिए होता है—एक प्रकृति की, दूसरी भाषा की, तीसरी वहाँ के स्थानीय रीतिरिवाज अथवा चले आ रहे रूढ सस्कारो की। नागार्जुन का कथानायक इसी परिवेश के बीच से गुजरता हुआ अपनी कथा-यात्रा तय करता है, जिसमे अधिक पडाव अर्थात् सश्लिष्ट पर्तों के स्थान पर गति होती है।

'वरुण के बेटे' उपन्यास उनके अन्य आंचलिक उपन्यासो से थोड़ा अलग हटकर है। एक तो उसमें 'बलचनमा' या 'बाबा बटेसरनाथ' जैसी बिल्कुल सपाट कथा नही है दूसरे उसके रचाव मे भी कुछ अन्तर दिखलाई पडता है। 'वरुण के बेटे' मछुओ की जिन्दगी को अभिव्यक्ति देने वाला हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। बाद मे उदय शकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य' मे इनकी जिन्दगी की व्यथा-कथा कही है। 'वरुआ के बेटे' मछुओ की जिन्दगी की तमाम पर्तें बखूबी उघाडता है जिनसे हिन्दी का पाठक बिल्कुल अनभिज्ञ था। किस तरह ये लोग अपनी रोजी-रोटी चलाने के लिए आपदाओ के मुंह में घुसते हैं, किस प्रकार सघर्षों मे जूझते हैं। इस सघर्षशीलता के बावजूद जीवन के अभावो से इनका पिड नही छूटता। खुरखुन मांझी की स्थिति इसका एक उदाहरण है। दुनिया जब सोती है ये रात को गरोखर मे जाल फैलाते हैं, बर्फ से जमे पानी मे डुबकियाँ लगाते हैं। पुआल इनका बिछौना है, नग-धडंग इनकी नियति है, भूख से तडपना इनकी आदत है। रात को जब खुरखुन घर लौटता है और पत्नी से कुछ खाने को मांगता है तो कांपते शरीर को मिलते हैं मुट्ठी भर कच्चे चावल। वह यह कहता हुआ कि "कच्चे चावलो से दांत-मसूढो को

खजिश नाहक कौन करवाए।"[1] वह उन्हे भीगने के लिए डोल में डाल देता है। यही जरा से भीगे चावलों की पोटली उसके रास्ते का पाथेय बनती है। मलाही-गोंढियारी मे मछुओ के तीस-पैंतीस परिवार थे। अधिकतर मछुए, खुरखुन की हैसियत के थे। वे पास-पड़ोस के इलाको मे पांच-सात कोस तक और कभी-कभी दस-पन्द्रह कोस तक मछलियाँ पकड़ने निकल जाते थे। इधर के जितने भी पोखर थे, जितनी भी ताल-तलइयाँ थी, जितनी भी नदियाँ और झीलें थी, पानी का जहाँ भी जमाव-टिकाव था—सारा का सारा उनका शिकारगाह था। दैनिक जीवन की लगभग आवश्यकतायें यही से पूरी होती थी। मछलियाँ ही नही, सिंघाड़ा—तालमखाना—कमल और कुई के फूल, कमलगट्टे, कमलनाल, कड़हड़, कँसोर, सारुख जैसी चीजें भी पानी से वे हासिल करते थे।

देश आजाद हुआ, मलाही-गोंढियारी (मछुओ की बस्ती) में भी बदलाव आना था। राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम मे भाग लेने वाले मोहन माँझी ने एक सपना सजोया था—"गढ़ पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चलकर और तब मलाही-गोंढियारी के ग्रामांचल मछली-पालन-व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे। वैज्ञानिक प्रणाली से यहाँ मछलियाँ पाली जायेंगी। पूस से लेकर जेठ तक प्रति वर्ष अच्छी से अच्छी मछलियाँ अधिक से अधिक परिमाण मे हम निकाल सकेंगे। एक-एक सीजन मे पचास-पचास हजार रुपयो तक की आय होगी। मलाही-गोंढियारी का एक-एक परिवार गरोखर की बदौलत सुखी-सम्पन्न हो जायेगा। विशाल जलाशय की इन कछारों मे हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदिनियो की खेती करेंगे। पक्की ऊँची भिंडो पर इकतल्ला सैनिटोरियम बनेगा, फिर दूर पास के विद्यार्थी आ-आकर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे।..."[2] इतने बड़े सपनो को पूरा होने की बात तो हवा हुई हाँ जमींदारी-उन्मूलन हुआ। जमीदारी-उन्मूलन के अन्तर्गत कुछ एक अचल सम्पत्तियों के विषय मे छूट दे दी। उसका परिणाम यह हुआ कि पोखरों और चरागाहो तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे। इस बेचने के क्रम ने इन गाँव वालों को आफत में डाल दिया। देपुरा के जमींदार ने सतघरा के जमीदार को गरोखर बेच दिया। जमीदार पुलिस आदि की सहायता से कब्जा लेना चाहता है। यही से सघर्ष प्रारंभ हो जाता है। सारे मछुए एक-जुट हो जाते हैं। प्राइमरी स्कूल मे भोला खुरखुन, बिसुनी, रंगलाल, नीरस, नरायन, छीतन, नवनि, क्ल्लर भोकर, नथुनी, नकछेदी, वीलट, भइयन, दुखी, जलधर, गंगा, नदे वगैरह समस्या पर विचार करते हैं और तय करते हैं—"छोड़ा नही जाए। गढ़पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है। जमीदार जलकर लेता था, हम देते थे। नया खरीदार दूसरे-तीसरे गाँव के मछुओं को मछलियाँ निकालने का ठेका देता चलेगा और हम पुस्तैनी अधिकारों से वंचित होकर रुलते फिरेंगे, भला यह भी क्या मानने-

१. वरुण के बेटे: नागार्जुन, पृ० १५।
२. वही, पृ० ३४।

की बात है ?"[1] मछुओं का यह विचार बिल्कुल ठीक है क्योंकि इस पानी पर सदा में उनका अधिकार रहा है । यह गरोखर का पानी मामूली पानी नहीं है अपितु उनके शरीर का लहू और जिन्दगी का निचोड़ है । रोजी-रोटी का एकमात्र सहारा यह पानी ही तो है ।

मलाही गाँव के इन मछुओं को अपने अधिकारों के प्रति जुझारू एवं सचेत करने का श्रेय मोहन माँझी को है । उसने किसान प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन बुलाया । पचास गाँवों के किसान और खेतिहर मजदूरों ने उसमें भाग लिया । उसमें तकावी-वसूली को पाँच साल के लिए स्थगित करने की माँग की गई तथा दूसरे प्रस्ताव में गढ़पोखर के तथाकथित मालिकों को और भावी सतघरा के जमीदारों को आगाह करते हुए कहा गया कि, "वे युग की आवाज को अनसुनी न करें । मलाही गोंढ़ियारी के मछुओं को गरोखर से मछलियाँ निकालने के पुश्तैनी हकों से वंचित करने की उनकी कोई भी साजिश कामयाब नहीं होगी । रोजी-रोटी के अपने साधनों की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले मछुए असहाय नहीं हैं, उन्हें आम किसानों और खेत-मजदूरों का सक्रिय समर्थन प्राप्त होगा ।"[2] ये युग की आवाज जन-चेतना की आवाज है । सामन्तवादिता का युग अब लद चुका । जमीदारों के अत्याचारों एवं अनाचारों की अब आखिरी साँस है । लोग संघर्षों के लिए एकजुट हो रहे हैं । मोहन माँझी को जैसे ही पता चलता है कि गाँव में जमीदार पुलिस की जीप लेकर आया है वह तुरन्त मंगा को साथ ले घटनास्थल पर पहुँच जाता है । भोला को घर भेजकर वह देवुरा के जमीदारों द्वारा लिखा पट्टा माँगता है और अचलाधिकारी जो कि नव-युवक था, को संतोष कराता है कि इस पर हम लोगों का जायज हक है । अचलाधिकारी पुलिस के साथ वापस लौट जाता है और इस प्रकार जमीदार को मुँह की खानी पड़ती है । इस घटना से जमीदार तिलमिला कर रह गया । अगले वर्ष अचलाधिकारी का तबादला हो गया और जमीदार ने दफा १४४ के नोटिस लागू करवा लिए और पुलिस को साथ लेकर डिप्टी मजिस्ट्रेट गरोखर पर पहुँच गया । मछुआ नेता मोहन माझी, मंगल, मधुरी, कन्हाई, जलेसर, नरचेधी आदि से बातचीत की और जब कोई मार्ग न निकला तो मछुआ संघ के सभी अधिकारियों को गिरफ्तार कर ले गई । स्वतन्त्र भारत की भ्रष्ट नौकरशाही का एक घटिया उदाहरण है कि विशाल जन सम्पत्ति वाला गरोखर जिस पर जनता का स्पष्ट हक था, जिससे सैकड़ों परिवार पल रहे थे पैसा और ताकत के बल पर जमीदार द्वारा हथियाने के प्रयत्न चलते हैं । अपनी सरकार पर इन गरीब दलित लोगों की पुकार का कोई असर नहीं । गरीब जनता के इस नये शासन से बड़े मोह भंग हुए हैं ।

'वरुण के बेटे' उपन्यास में संघर्ष का एक और स्थल है यह भी प्रत्यक्ष रूप

---

१ वरुण के बेटे : नागार्जुन, पृ० १६ ।
२ वही, पृ० २११ ।

है जल से ही संबंधित है। अतः एक तरफ इन्हें बसाता है तो दूसरी ओर बर्बाद भी करता है। बाढ़ आती है। गाँव के गाँव बह जाते हैं। सारा इलाका एक भयंकर त्रास में जीता है। लोग अन्न के दाने-दाने के लिए तो तरसते ही हैं साथ ही सिर छुपाने की जगह के लिए भी परेशान हो जाते हैं। सरकारी सहायता कैंप तो मात्र उनके दुख-दर्दों पर नमक छिड़कने का काम करते हैं। मझारपुर स्टेशन पर खड़ी माल गाड़ी में बाढ़पीड़ित घुसकर त्राण पा लेते हैं। स्टेशन तो भरा पड़ा ही था। साथ ही हिन्द हितकारी समाज की तरफ से ऊँची जमीन पर मोहन माँझी के नेतृत्व में एक सहायता कैंप काम करता है। सुरसुन की मधुरी भी रात-दिन एक कर उस कार्य में हाथ बटाती है। बाढ़ रुक नहीं रही थी। बीमार बच्चों की माँ, बूढ़े आदमी जैसे-तैसे डिब्बे में घुसकर अपनी सांस पूरी कर रहे थे। उस पर स्टेशन मास्टर डिब्बे खाली कराने को उतावला था। ठीक है उसकी भी मजबूरी थी। लेकिन जब कोई बात नहीं बनती जनता के प्रतिनिधि बिगड़ उठते हैं। एक युवक तो स्टेशन को फूँकने तक की बात तक आ जाता है। खैर, जैसे-तैसे टकराव बचता है। वस्तुतः हमारी सरकार में ऐसा लगता है कहीं न कोई को-आर्डीनेशन है न हमदर्दी यों भले ही हम कागजों के लम्बे-लम्बे प्लान द्वारा या भाषणों में समाजवाद की दुहाई देते रहें। नागार्जुन ने दोनों-तीनों संदर्भों में उभरते आक्रोश को सशक्त दिशा प्रदान की है।

मलाही-गोढ़ियारी में ले-देकर गरोखर था जिससे लोग अपना भरण-पोषण करते थे। जब उस पर भी आँच आने लगी तो दुखी कोसी योजना में काम के लिए चला जाता है। वहाँ उसके अनुभवों को सुन और देख तो आज की सरकारी भ्रष्ट-व्यवस्था का कच्चा चिट्ठा सामने आ जाता है। भूँजा परही की पोटली बाँध मजदूरी को निकला दुखी अपने कपड़े उतरवा कर लौटता है। कोसी पर काम पर प्रतिदिन नये-नये बाबू आते गये और वह कार्य करता रहा। पहले द्वारा लिखा नाम दूसरे को न मिला और दूसरे का तीसरे को न मिला और वह भूल-भुलैया में पड़ा काम करता रहा। "मिट्टी काटते-ढोते बारह दिन बीत गये छदाम का भी दरसन नहीं हुआ। उधार खाते चावल, दाल, नमक, हल्दी, मिर्ची, ईंधन देने वाला दुकानदार भला क्यों छोड़ने लगा? कुदाल रख ली, टोकरा रख लिया, धोती तक उतरवा ली कमर से, गमछा लपेटे दो दिन दो रात का भूखा मैं घर लौट आया हूँ।" "इतना कहकर दुखी ने लम्बी साँस ली और धरती छूकर दोनों कान छू लिए।"[1] दुखी की यह व्यथा-कथा शहरों से बहुत दूर अनेक ग्रामों के बाशिंदों की कथा है। गाँव रोजगार की तलाश में टूट-बन रहे हैं। इस कथन में सरकारी व्यवस्था पर तो करारा व्यंग्य है ही साथ ही ग्राम-जीवन की उन स्थितियों की ओर भी संकेत है जिसके कारण दुखी-जैसे मेहनतकशों को भी गाँव छोड़ अनेक यातनाओं से साक्षात्कार करना पड़ता है।

नागार्जुन ने बड़े ही अंदाज से इन मछुओं की 'जिन्दगी को समीपी-दृष्टि से

1. वरुण के बेटे : नागार्जुन, पृ० ४६।

आंका है। पानी की गहराइयो से जूझने वाले ये लोग बड़े हिम्मती होते हैं। खुरखुन सारे देहात मे प्रसिद्ध था मगर से जूझने के लिए। इनका जीवन बडा ही संघर्षशील है। अभावो से जूझते है, रोगों से जूझते है, कीड़े-मकोड़ों से जूझते हैं और प्रकृति से ट्रेनिंग ले जमीदारो से भी जूझ उठते हैं। उपन्यास का कथानक आंचलिक उपन्यासो जैसा बिखराव नहीं रखता। कथानक गाँव के दुख-दर्दों को अभिव्यक्त करता हुआ तेजी से अपना सफर तय करता है। पात्र भी इने-गिने हैं मोहन मांझी, खुरखुन, मधुरी आदि तो मुख्य है बाकी मात्र नाम के लिए ही आये हैं। उनके नाम विविध स्थितियों मे आकर भी उभर नही पाते। नारी-चेतना की नयी छवि हमे अनपढ़ मधुरी मे दिखलाई पडती है। बचपन से ही उसमे उग्र स्वर दिखाई पडते हैं। ससुराल से शराबी श्वशुर की हरकतो से दुखी हो दूसरे-तीसरे दिन ही घर लौट आती है। गोढियारी मे आकर पिता का हाथ बटाती है। मोहन मांझी के नेतृत्व मे बाढ़-पीड़ितों की सहायता करती है और अत में गरोखर की रक्षा के लिए पुलिस के ट्रक मे गिरफ्तारी ही नही देती अपितु चेतनाशील नारे लगाती है, ताकि गाँव मे डर और भय के स्थान आपात् स्थिति का सामना करने का हौसला बढे। वास्तव मे यह खुरखुन की लड़की नही अपितु लडका है। मगल और मधुरी का रोमानी प्रसग मधुरी को 'ओवर मेच्योर' का सा चेहरा प्रदान करता है जो बहुत कुछ किताबी है वास्तविक नही, अन्यथा बाहों मे बँधी महकती चांदनी रात के एकान्त क्षणो मे वह मगल की गृहस्थी सुधार से चिन्तित न होती। दरअसल नागार्जुन फार्मूलाबद्ध चरित्र-निर्माण करते है, जीवन के भँवरो के बीच छोड नायक और नायिका को उभरने नही देते। प्रतिबद्धता ही इसका मूल कारण है। समाजवादी सोच का सच्चा फैलाव यथार्थ की भगिमाओ मे अधिक सफाई से हो सकता है। लेकिन हिन्दी उपन्यास की यह एक ट्रेजेडी है कि चौखटा बनाकर लिखने वाले लेखक ही राजनीतिक चेतना के उपन्यास लिख रहे है।

कृति की रचनाधर्मिता का सवाल लेखकीय दृष्टि से जुड़ा हुआ होता है। कृति की सार्थकता उस दृष्टि-विशेष के प्रसार मे ही सन्निहित होती है। ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जो मात्र तथ्यो के पिटारे है। तथ्य-वक्तव्य जो भी हो कला नही हो सकता। भावो की व्यापकता को कभी व्यग्य से, कभी बिम्ब से रूपायित करना होता है। नागार्जुन के उपन्यास रूप-विन्यास के विविध प्रयोग तो नही हैं लेकिन, कहीं-कहीं व्यग्यो से स्थितियो का आकलन बडा बढिया बन जाता है। 'वरुण के बेटे' में श्रम-दान की कृत्रिमता पर व्यग्य किया गया है। कोसी के किनारे श्रमदानियो के महत्त्व के कारण जगल मे मंगल हो जाता है। उनको हर सुविधा प्रदान की जाती है। भूदान और श्रमदान दान न रहकर दिखावा बनकर रह गये है। गाँव के लोगो मे कर्तव्यनिष्ठता है तो शहरियो मे बनावटीपन, इसीको उद्घाटित करता हुआ लेखक सूचित करता है, "खाते-पीते परिवारो के शौकिया श्रमदानी सज्जनो की बात ही और थी, उनकी सुविधा के अनेक साधन कोसी किनारे जुट गये थे। चाय-बिस्कुट, पान-

सिगरेट, शर्बत, मिठाई, पूड़ी-कचौड़ी, चूड़ा-दही, रेडियो, सिनेमा, रिकार्ड, माइक, लाउडस्पीकर, अखबार और पत्रिकायें'' पास-पडोस के परिचित कांग्रेसी नेताओं की सिफारिश से वे पटना या दिल्ली से आये ऊँचे पदाधिकारी के साथ भीड़ में खड़े हो जाते और फोटो खिच जाती। इन लोगों का श्रमदान क्या था बैठे-ठाले का अच्छा-खासा मनोरंजन था।''[1] सीधे और सरल शब्दों में लेखक ने आज की कृत्रिमता पर, प्रचारवादिता पर और एक आज के नकलीपन पर गहरी चोट की है। देश के सुधार या गांव के सुधार पर दृष्टि हमारे नेताओं की नहीं टिकती वह तो सभा-जुलूसों के आयोजनों में निरर्थक भूमिका अदा करने में राष्ट्र का समय और धन बर्बाद करते हैं। कोसी योजना पर किस गति से काम होता है इसका उदाहरण दुन्नी के सदर्भ में पहले ही निवेदित हो चुका है। यानी विकास के नाम व्यवस्था में 'टोटल क-ऑस' की स्थिति है, जिसमें किसी को कुछ नहीं पता।

अन्य उपन्यासों की भांति 'वरुण के बेटे' में भी नागार्जुन 'मलाही-गोढ़ियारी' बस्ती की समग्र आन्तरिकता को नहीं उभार पाये हैं। यद्यपि उन्होंने मछली पकड़ने के जाल, उनके सम्बन्धी औजार, उनके खान-पान, पहनावा, मछलियों के विविध नाम आदि सभी को गिनाने की कोशिश की है। उनके रीति-रिवाज, उनके सांस्कृतिक पर्व-त्यौहार बहुत कम उभर पाये हैं। यह बात अलग है कि विविध स्थलों पर लोक-जीवन के गीतों की धुनें सुनाई पड़ती हैं, प्रकृति के दृश्य दिखाई पड़ते हैं और लोक-भाषा के शब्द और मुहावरों से वहाँ की स्थानीयता का उद्घाटन किया गया है। तद्भव शब्दों के प्रयोग से पग-पग पर परिवेश झलकता है। स्थानीयता के उद्घाटन में बहुत से बारीक तत्त्व नागार्जुन की निशानेबाज दृष्टि से रह जाते हैं, क्योंकि उनका मुद्दा सीधा और सपाट होता है। अन्य उपन्यासों की तुलना में नागार्जुन का यह उपन्यास आंचलिकता के सर्वाधिक निकट बैठता है। गढ़-पोखर पर महाजाल फैलाए जाने वाला दृश्य अपनी ध्वन्यात्मकता में 'परती : परिकथा' ('रेणु') में चलने वाले ट्रैक्टर की याद कराता है। बिम्ब और प्रतीक-प्रधान जिनसे जीवन की संश्लिष्ट स्थितियों को उजागर किया जाता है 'वरुण के बेटे' में यत्किंचित् ही दिखलाई पड़ती है।

१ वरुण के बेटे : नागार्जुन, पृ० ४२।

परती : परिकथा :

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

'परती : परिकथा' हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठित उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' *का दूसरा आंचलिक उपन्यास है, जिसने विशेष समय-सन्दर्भों मे आगे बढकर विहार* अंचल के ही एक अन्य गाँव परानपुर के बीच से अपनी कथा-यात्रा तय की है। इस दूसरे उपन्यास मे 'रेणु' जी 'मैला आंचल' से भी अधिक ग्राम-जीवन मे गहरे उतरे हैं *तथा उनकी प्रीति अपनी धरती के प्रति और प्रगाढ हुई है। ग्रामीण जिन्दगी की* छोटी-बडी सच्चाइयां धरती की छुअन से बनी प्रतीत होती है, 'रेणु' ने गॉव को बडी निकटता से देखा ही नही भोगा है। अत स्वातन्त्र्योत्तर ग्राम-जीवन के बदलते सन्दर्भों मे व्यक्ति-मन को उत्तरोत्तर घेरती भ्रष्ट राजनीतिक गुटबन्दी, आर्थिक विपन्नतायें, रोजी-रोटी के अनुत्तरित प्रश्न, सरकारी तत्र की स्वार्थी मनोवृत्ति, टूटने-बनते नये नाते-रिश्तो की दुनिया, आम आदमी की व्यथा-कथा तथा इनके सबके बीच छटपटाते मूल्यबोध का गहरा अहसास इस धरती की कृति मे होता है।

'परती : परिकथा' के केन्द्र मे परानपुर गाँव की समग्रता एव मुख्यत भूमि की समस्या है। यह उपन्यास धूल-धूसरित वीरान धरती पर अधिकार के विभिन्न दावो-उपदावो की कथा है, परानपुर के नवनिर्माण की कथा है और कथा है भूमि-सबधी उन सरकारी सुधारो (लैन्ड सर्वे, चकबन्दी, जमीदारी उन्मूलन आदि) की जिन्होने अपने प्रभावो की परिणति से गाँव को विभिन्न इकाइयो मे बाँटकर रख दिया है। इसके अलावा पौराणिक एव लोक-कथायें भी उपकथाओ के रूप में यहाँ विद्यमान हैं जो कही मूलकथा को गति प्रदान करती हैं तो कही परिवेश की सृष्टि। जमीदार और किसान ही एक धरती पर परस्पर विभिन्न दावेदार नही, एक परिवार के ही विभिन्न पारिवारिक अलग-अलग दावेदार है। जमीदारी-उन्मूलन जनित भावक्रान्ति की यह एक विसगतिपूर्ण स्थिति है। ऐसी अनेकों स्थितियाँ जीवन के विविध क्षेत्रो मे यहाँ उपलब्ध हैं। परानपुर गाँव मुकदमेबाजी, सामाजिक तनावो और सम्बद्ध परिवर्तनो की जकडनो मे बुरी तरह जकड गया है। वैमनस्य की बाढ मे, राजनीति को चौपड का खेल हर ग्रामीण लुके-छिपे खेल रहा है। धरती की राजनीति और मुकदमेबाजी मे गाँव किस तरह नष्ट हो रहा है, उसका यथार्थ चित्र है, "पाँच दीवानी मुकदमे दायर हो चुके हैं। एक-से-एक रगीले मुकदमे। परिवार का एक

प्राणी दूसरे को निगलने की तैयारी कर रहा है। लड़के ने अर्जी दी है—विधवा माँ परिवार को नेस्तनाबूद करने पर तुली हुई है। पारिवारिक सम्पत्ति को बर्बाद कर रही है। माननीय जज साहब इजक्शन की कार्रवाई को मंजूर करें। बाप ने प्रार्थना की है, वह सम्मिलित परिवार का कर्त्ता होकर अभी भी जीवित है। सम्मिलित परिवार की आमदनी के पैसे से उसके लड़के ने जमीन खरीदी—सब अपने नाम से। अब एक धूर जमीन भी नहीं देना चाहता उसका बेटा। गुजारिश है '''।''[1] कितना जटिल व्यंग्य-चित्र है मुकदमेबाजी का। बेचारा जज सिर पटक कर मर जाय तो भी जायज फैसला नहीं कर पायेगा। सभी के कथन एक-दूसरे को काटते हैं और अपने को मजबूत करते हैं। आखिरकार किसको आधार मानकर निर्णय सोचा जाय। आज के गाँव की कितनी क्रूर नियति बन गई है, यह इस उपर्युक्त कथन से आभासित है।

इतना ही नहीं, श्यामगढ़ स्टेट के राजा कामरूप नारायण जमींदारी-उन्मूलन के पश्चात् अपनी प्रभुता गँवाने को तैयार नहीं। जमींदारी-उन्मूलन से उत्पन्न कुंठा ने उन्हें राजनीति में सक्रिय भाग लेने को प्रेरित किया है। परानपुर के जितेन्द्र को भी उनकी यही सलाह है कि अपने भूतपूर्व अधिकारों को यथास्थिति में रखने के लिए उसे भी युग की हवा के साथ बदलना होगा। अपनी राजगद्दी की सुरक्षा हेतु उन्होंने एक नयी पार्टी 'प्रजापार्टी' का गठन किया है। यहाँ व्यंग्य की कैसी विडम्बना है कि नाम 'प्रजापार्टी' और काम राजाओं के अधिकारों की सुरक्षा। और जब हम उस पार्टी के कार्यकारी सदस्यों का परिचय पाते हैं तो इस व्यंग्य की गहराई और भी स्पष्ट हो जाती है। जितेन्द्र को बताते हुए कामरूप नारायण कहते हैं कि, "अपनी स्टेट के तीन सर्किल मैनेजर, पचास पटवारी और डेढ़ सौ प्यादों को लेकर मैंने प्रजापार्टी का शिलान्यास किया। कहा, चलो ! तुम्हारी नौकरियाँ अपनी जगह पर बरकरार ! जमींदारी चली गई, राज चला गया, फिर भी मैं वेतन दूँगा। ओहदा बदल गया है, काम बदल गया है।'''और, आज देखो। कई वामपंथी पार्टियों के सधे-सधाये लोग आ गये हैं, वकील, मुख्तार, प्रोफेसर, छात्र, महिलाएँ। मैंने प्रान्त-भर में बिखरी ऐसी शक्तियों का संचय किया है, जो सही नेतृत्व के अभाव में बुझी जा रही थीं। पिछले दिनों दो-दो वामपंथी पार्टियों ने प्रजा पार्टी के झन्डे के साथ अपना झन्डा बाँधकर, विधान सभा के सामने प्रदर्शन किया है—रेन्ट फ्री लैन्ड, बगैर किसी खजाना के जमीन ! दे सकी है आज तक कोई पार्टी ऐसा क्रान्तिकारी नारा ?'''।"[2] और कुछ हो न हो राजा कामरूप नारायण की यह कुण्ठाजन्य राजनीतिक सूझ बड़ा जटिल सामंती हथकण्डा है, लेकिन समय से बेखबर कामरूप नारायण को यह भी याद रखना चाहिए कि आकर्षित नाम और आकर्षित नारे गाँव को भी

---

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु' : परती : परिकथा, पृ० ४४०।

२ वही, पृ० ४२७-२८।

आज अधिक देर तक भुनाये मे नहीं रख सकते। प्रजातांत्रिक व्यवस्था ने छोटे-बड़े सभी को राजनीतिक साझेदारी प्रदान कर नयी मानसिकता प्रदान की है। इन सब बातों के अतिरिक्त उपर्युक्त गद्यांश में एक बात ध्यातव्य है कि 'रेणु' ने जिस कुशलता से राजनीतिक अवसरवादी चेहरे को बेनकाब किया है, उससे निश्चय ही उनकी व्यंग्य-शक्ति के साथ-साथ उनकी राजनीतिक पहचान और निस्सग समझदारी का परिचय मिलता है। आज ग्राम जीवन के सामन्त टूटकर भी व्यवहार मे टूटना नही चाहते और सदियों से गरीब किसानों-मजदूरों का शोषण करने वाले ये जमींदार आज नये राज्य से मांग करते हैं—'रैन्ट फ्री लैण्ड', बगैर किसी खजाना के जमीन। कैसी अद्भुत नियति है इन छद्मभरे नारों की।

'रेणु' जी ने जिस परानपुर गाँव की कथा कही है वह थाना रानीगज का परानपुर है जिसकी प्रतिष्ठा सारे जिले मे है। उन्नत गाँव तो है ही लेकिन बदनाम भी है। लोग यहाँ के दस वर्ष के बच्चे से बातें करते समय अपना पाकेट एक बार टटोल कर देख लेते हैं। *फारबिसगज के दुकानदार इस गाँव के ग्राहकों को देख* अपनी फैली हुई चीजें समेटने लगता है। हाकिम-हुक्काम भी बातचीत करते बड़े सचेत रहते हैं क्योंकि यहाँ एक ही वर्ष तीन-तीन विभागों के अधिकारियों की आँखों मे धूल झोंकी गई, यहाँ के लोग रेल मे टिकट लेकर यात्रा नही करते अगर कोई चेकर कभी अटकता है तो रोड़े और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं। ऐसा बीहड़ चेहरा तो इसका अपना है और जब उसमें राजनीतिक चेतना आयेगी तो उसकी क्या स्थिति हो सकती है यह विचारणीय पहलू है। इस अकेले गाँव मे अठारह राजनीतिक पार्टियाँ हैं और यहाँ अठारह प्रकार के रोज प्रस्ताव पास होते हैं। यहाँ के भूतपूर्व जमींदार का बेटा जित्तन राजनीतिक तौर पर शुद्ध मना है। वह गाँव की राजनीति पर हावी होना बिल्कुल नही चाहता बल्कि गाँव की गन्दी राजनीति उस पर हावी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप बेचारा पत्थर से माथा फुड़वा लेता है। फिर भी उसके मन मे कतई रोष नही क्योंकि यह कृत्य गाँव के सरल-हृदय व्यक्तियों का नही अपितु लुत्तो की गन्दी राजनीति का परिणाम है। लुत्तो परानपुर का लगी-बाज राजनीतिज्ञ है। उसका राजनीतिक चेहरा काग्रेसी है, लेकिन उसकी गतिविधियों मे प्रतिक्रियावादी तत्व विद्यमान हैं। इन तत्वों के साथ विद्वेष, स्वार्थपरता, बेईमानी आदि भी उसमे हैं। पचायत का निर्माण उसकी कलाबाजियों का खेल है। गरुड़धुज से मिलकर मुखिया और सरपचों के उम्मीदवारों को पैसों से तोड़ता है। मुखियागीरी के लिए रोशन बिस्वां को तिजोरी खोल पैसे देने पड़ते हैं तभी तो सुचितलाल मडर आदि को मैदान से बैठाता है। किसी को साड़ी तो किसी को ईंटें इस उपलक्ष्य मे प्राप्त होती हैं। लुत्तो अपनी बात खोलता हुआ झा से ठीक ही कहता है, "दोनों कैण्डेट, समझिये कि मेरी मुट्ठी में है। मैंने लंगी लगा दी है, एक को सरपंची का लोभ दिया है और दूसरा कुछ रुपया चाहता है।"[1] सभी को तरह-तरह के प्रलोभन

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु' : परती : परिकथा, पृ ४४२।

'दिये जाते हैं। किसानों में यह प्रचार होता है कि मुकदमों में पराजित जमीन की प्राप्ति केवल अच्छे सरपच के माध्यम से हो सकती है। सभी तरह के अच्छे-बुरे हथकण्डे यहाँ अपनायें जाते हैं। ग्राम जीवन की पंचायत तो नाममात्र की स्वायत्तता की इकाई है वस्तुतः यह घड़ेबन्दी, गुटबन्दी, भ्रष्टाचार और अत्याचार करने वाला एक गैंग है। राजनीति से जीवन-मूल्यों का कोई सरोकार ही नहीं रह गया है स्वार्थ-सिद्धि और धोखाधड़ी ही उसकी आत्मा मे रस बस गई सी लगती है। इसी यथार्थ का साक्षात्कार करते हुए जितेन्द्र कहता है, "···मुझे ऐसा भी लगता है कि जान-बूझकर ही आपको (ग्रामीण-जनता) अंधकार में रखा जाता है। क्योंकि आपकी दिल-चस्पी से उन्हें खतरा है।···इन कामों से आपका लगाव होते ही नौकरशाही की मनमानी नहीं चलेगी। एक कप चाय पीने के लिए तीन गैलन तेल जलाकर वे शहर नहीं जा सकेंगे। सीमेंट की चोरबाजारी नहीं कर सकेंगे एक दिन मे होने वाले काम मे एक महीने की देरी नहीं लगा सकेंगे। नदियों पर बिना पुल बनाये ही कागज पर 'पुल बनाकर बाद में बाढ़ से पुल के बह जाने की रिपोर्ट वे नहीं दे सकेंगे।" इस छोटे से कथन मे राजनीतिज्ञों के कुकृत्यों का भंडाफोड़ लेखकीय प्रतिबद्धता प्रगति-शीलता से स्पष्ट रूप से जुड़ी हुई है। यही नहीं लेखक ने अन्य विविध सन्दर्भों में भी नेताओं के मुखौटों को हटाकर वास्तविकता का अहसास कराने के प्रयत्न किये हैं।

परानपुर गाँव में सामाजिकता एवं सामूहिकता दिन-प्रतिदिन टूट रही है कहीं राजनीति की तिकड़में तोड़ रही हैं, कहीं दैन्य जीवन के अभाव और मजबूरियाँ तोड़ रही हैं तो कहीं समय-सन्दर्भ का नया उजाला तोड़ रहा है। बाहर से शिक्षा प्राप्त कर गाँव मे आकर भूतपूर्व जमीदार का लड़का जितेन्द्र यही अनुभव करता है। उसका कहना कतई दुरुस्त है, यही तो आज की वास्तविकता है, "गाँव समाज में, मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्पर्क घनिष्ठ था। किन्तु अब नहीं रहा। एक आदमी के लिए उसके गाँव का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड़ और कुछ नहीं। "कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव-अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक-दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राणो का योग सूत्र नहीं।"[1] दूसरे रूप मे शहरी मूल्य गाँव मे प्रविष्ट हो रहे हैं। गाँव समाज में रहकर भी व्यक्ति अकेला-पन अनुभव कर रहा है। नैतिकता निरन्तर टूट रही है। ईमानदारी और सत्य की आवाज हल्की तथा बेईमानी और झूठ की तूती बोलने लगी है। संत्रास, कुंठा, घुटन धीरे-धीरे गाँव मे व्याप रहा है। भौतिकता जीवन की सामूहिकता, अविच्छिन्नता को तोड़ घर-परिवारों को तोड़ रही है। संयुक्त परिवार निरन्तर घट रहे हैं और जीवन की सामाजिक इकाइयों का व्यक्तित्व दिन-प्रतिदिन खंडित हो रहा है। घर-घर की टूटन गाँव को तोड़ रही है और गाँव टूट-टूटकर शहरों में समा रहे हैं।

'रेणु' जी के परानपुर मे व्यक्ति काँच के बर्तनों की तरह टूट रहा हो, या नाते-

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु' : परती : परिकथा, पृ० ४५१।

से मुक्ति की कोई आशा नहीं ! '''परमादेव की सवारी के दिन, गाँव में चांचल्य ! रघू रामायनी की गीत-कथा के समय, शामा चकेवा की रातों में, बन्द मन के झरोखे जरा खुले थे।'''जात्रा, सकीर्तन, नाटक के अवसरों पर आनंद के अवसरो पर आनद से सारा गाँव फूला रहता और, अब ?''[1] गाँव में क्या नैतिक-अनैतिक सबध, क्या खानपान, क्या रहन-सहन, क्या सोच-विचार, क्या फैशन के तौर-तरीके सभी कुछ ने नये-नये प्रतिमान उद्घाटित किये हैं। रैंदास टोली के महीचन हरिजन की मलारी पढ़-लिख-कर मास्टरनी बन जाती है और गाँव के उच्चवर्ण के सुवश बाबू के साथ भाग जाती है और शादी कर लेती है। अपनी सुन्दरता के बावजूद उसका पाकदामन रह पाना 'रेणु' जी की रोमांटिक दृष्टि का परिणाम है। 'रेणु' जी का आशावान मन शैक्षणिक प्रगति से गाँव की सामूहिक प्रगति का सपना देखता है, जातीयता की टूटन चाहता है और बहुत कुछ बदलाव आता भी है। (चाहे 'रेणु' जी की आदर्शोन्मुखतावश हो) गाँव के नवयुवक और स्त्रियाँ जितेन्द्र की हवेली में आने लगती है, नवयुवक सुवश-मलारी के प्रेम-संबंधो को लेकर उठे वितंडावाद में उसका साथ देते हैं। वाचनालय की ग्रान्ट का यथार्थ पहलू उभर कर उसके साथ लिपटे अन्य प्रसंगो से मनोरंजक स्थितियों का उत्पन्न करना वस्तुत: रेणु जी की विनोदी प्रवृत्ति का ही परिणाम है। शिक्षा, उद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण गाँव को नयी मानसिकता प्रदान करते है। अधविश्वासों के जडबद्ध संस्कार हिल उठे हैं।

गाँव के सामूहिक मानस चित्र 'परती : परिकथा' में ऐसा लगता है कि 'रेणु' का सर्जक मन शब्दों के साथ क्रीडा करने में, उन क्रीड़ाओ से गाँव की विनोदात्मक परिस्थितियो के निर्माण करने मे, भावों विचारों के आलोडन-विलोडन में, उल्लास-विलास के घटना-नियोजन मे, ध्वनि बिम्बों से व्यंग्यात्मक स्थितियाँ उत्पन्न करने मे, गाँव के सामूहिक मन को पकडने का प्रयत्नशील अभ्यासी तो रहा है लेकिन गाँव के दीन-दुखियो की झोंपडियों की आन्तरिकता उससे कही छूट गई है। वह नही पता कर पाता कि नट्टिन टोली और रैदास टोली मे गुजर-बसर कैसे चलती है। कैसे, कब, क्यों कितना और कहाँ से आता है उसे कुछ नही पता। हाँ पता है उसे हवेली की एक-एक हरकत का, दबे-ढके माल का और उड रहे गुलछर्रों का जो जमीदारी की वसीयत मे मिला है जितेन्द्र को। भले ही जितेन्द्र आज अपने नये मानवीय चेहरे से उन्हें 'जस्टीफाई' कर लेता है। जीवन की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए जूझ रहे मजदूरों की, मरने-खपने वाले इंसानो की, शोषित दलित मुखमरों की सघर्षशील स्थितिया नही देखने को मिलती। परानपुर गाव भले ही उन्नतिशील गाँव हो, लेकिन गरीब-गुरबा दीन-दुखिया, रोगी-भिखारी वहां भी होंगे, पता नही क्यों धूल और कीचड, फूल और धूल के जीवन का चित्रकार इस उपन्यास में अपना दामन बचाकर निकलने को प्रयत्नशील है। गांव के गली-मौहल्लों, खेत-खलिहानों का लेखक गाव के झोंपड़ो की आन्तरिकता को छोड़ दे, यह बात नही जँचती।

---

१. फणीश्वरनाथ 'रेणु' : परती : परिकथा, पृ० ४७१।

त्योरियो और झुर्रियों को बडी ही सूक्ष्मता से अंकित किया है। गाँव के उत्सव-त्योहार, सास्कृतिक खेल-कूद, नये-नये परिवर्तनों की छायायें रेणु की फोटो ग्रैफिक शैली में वहाँ के संश्लिष्ट चित्रों को खूब उभारती है। एक ऐसा ही चित्र है —"गाँव के लोगों के सिरहाने सपने मँडराते हैं— दुलारी दाय की धारा में बाढ आई है।"'चाँदी के रुपयो जैसी पोठी मछलियाँ, परती पर झिर-झिर पानी मे छटपटा रही हैं— चितपट, चित्त-पट, छट-पट !!'' धान के खेतों मे दौडने से धान के फूल झरते है, दूधिया गध फैल रही है।'' खेत का धान काटकर ले जा रहे जमींदार के लठैत। घेरो, घेरो !'''मुखिया का चुनाव हो रहा है। गाँव वाले मुखिया बना रहे हैं, उसी को। *दफा तीन मे हारी हुई जमीन फिर हासिल हो गई है ' गेंदा बाई गाली देती है ''* मलारी हवेली-घर मे रो रही है ? क्यो रो रही है ? लिखाकर दस्तखत करा लो उससे ?—पोपी कौन साला हमको पोपी कहता ?'' मकबूल की दाढी।''[1] इस उद्धरण मे सपनों का मँडराना अध-विश्वासों को अभिव्यक्त करता है तो दुलारी दाय की बाढ अपना ही चित्र अकित करती है जिसमे आदमी व मछलियाँ भी मुसीबत मे है, धान के खेतों की दूधिया गध परिवेश की ओर इगित करती है तो जमींदार के लठैतो का धान को काटकर ले जाना और परिवेश मे 'घेरो घेरो' के स्वरों की व्याप्ति अपना ही रग लाती है। मजा यह है कि वही व्यक्ति मुखिया भी बन रहा है, क्योकि उसका पलडा भारी है। कही खेतो के मुकदमो मे गाँव उलझा है तो गाँव के निम्न-वर्ग की मलारी, जिसने आधुनिक शिक्षा पा ली है, अपने प्रेमी सुवशलाल के प्रेम के लिए व्याकुल है। कुछ वाक्यो के इस समूह मे कितनी ही बातें एक साथ जुडी हैं, यह *यहाँ भली-भाँति द्रष्टव्य है, जिससे जटिल यथार्थवादी विशिष्ट परिवेश की सरचना* की निर्मिति हुई है।

गाँव के सामूहिक मन के अन्वेषी 'रेणु' ने पात्र-सयोजना मे अच्छे-बुरे सभी पात्रो को दृष्टि मे रखा है, कही-कही उनका मन व्यक्ति-केन्द्रित अधिक हो उठता है जो खलता है अन्यथा गाँव के व्यक्तियो की आन्तरिक और बाह्य उन समस्त हलचलो का प्रामाणिक ब्योरा दिया है जिससे वे तरल और मानवीय बन पडे है। मन स्थितियो की विषम आवर्तें उन्हे भी लपेटती है। 'रेणु' जी के पास वर्गीय चश्मा नही है उनके पास मनोविज्ञान की गहरी पहचान है। गाँव मे लुत्तो और गरुडधुज झा, मकबूल जैसे घुटे हुए राजनीतिज्ञ भी हैं तो महीचन, सामवती पीसी, मलारी, लीला, गोविन्दो, दिलबहादुर सिपाही, रामपखारन सिंह जैसे मामूली लोग भी हैं जो अपनी भली-बुरी *मानवीय पहचान बनाते हैं। नट्टिन टोली की गंगा बाई अपने को गाँव की महारानी,* जलधारी लालदास अपने को महान मुंशी, रैदास टोली का बालगोभिन अपनी टोली की लीडरी को बपौती तथा सुचितलाल अजब ही सनकी है जो अपने उप-नाम 'पोंपी' के चक्कर मे ही चक्कर काटता दिखाई पडता है। जितेन्द्र, ताजमनी, इरावती, भिम्मल मामा, सुधना, कुबेरसिंह शिवेन्द्र मिश्र, गीता मिश्र आदि के चरित्र मे 'रेणु' ने अपनी मनोवैज्ञानिक क्षमता के प्रदर्शन भी किये हैं। जो भी हो 'रेणु' ने अपने

पात्रों को, उनकी मनःस्थितियों को विविध परिस्थितियों के अकन से गाँव के रग में पूरी तरह रंगकर प्रस्तुत किया है जो भव्य तथा आकर्षक तो लगते ही हैं गाँव के यथार्थ की अंतरंग और बहिरंग पहचान को उभारने मे भी सहायक है।

'परती : परिकथा' के भाषिक रचाव के मूल्यांकन सदर्भ में सरल और कठिन भाषा का प्रश्न तो उठता ही नहीं है, देखना यह है कि जिस जीवन्त परिवेश को लेखक उठा रहा है उसमें वहाँ के लोकजीवन की समग्रता के प्रस्तुतीकरण मे भाषा का क्या रुख होना चाहिए। क्षेत्र विशेष की बोली-उपबोली के शब्द-प्रयोगों से बात नहीं बनती। बात बनती है वहाँ की सामान्य बोली और लय के लहजों को पकडने से, ध्वनि और वक्रता को पहचानने से। तभी कहीं जाकर लोक-परम्पराओं, लोकगीतों लोककथाओं तथा पशु-पक्षियों की बोलियों के मर्म को पकड़ा जा सकता है। ध्वनि-गति, रंग, रस सभी कुछ तो भाषा की रवानगी के लिए महत्त्वपूर्ण है। भाषा तो बहता नीर है। 'रेणु' जी ने इस पहचान यात्रा का प्रारम्भ किया है, वे पहले यात्री है अत: कभी-कभी दिग्भ्रमित भी हो जाते हैं अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करने के लोभ-संवरण मे फस चमत्कारी सीमा तक पहुँच जाते हैं। वस्तुतः इस अत्यधिक चमत्कारी वृत्ति ने ही आँचलिक उपन्यासों मे भाषा प्रयोग के प्रश्न को जन्म दिया है। जो भी हो 'परती : परिकथा' की भाषा मे शब्द चयन, ध्वन्यात्मक-सौंदर्य, सूक्ष्म से सूक्ष्म तफसीलें, चित्रात्मकता, नाटकीयता, वक्रता, सहज रवानगी आदि सभी कुछ है जिसने परानपुर गाँव के यथार्थ को पूरी तरह उजागर किया है।

'रेणु' जी की शब्दों के साथ क्रीडा करने की आदत उनकी शैली को एक तरफ नव्यता प्रदान करती है तो दूसरी ओर उसे कथावाचक की शैली से जोड़ती है। 'रेणु' की आँखें कैमरे की क्षमता और कान 'टेपरिकार्डर' के गुणों से सम्पन्न हैं जो परानपुर की एक-एक हलचल का, नदी-नालों का, पशु-पक्षियों का, स्त्री-पुरुषों का, नेता और दलालों का, धरती की सोंधी गंध और प्राकृतिक व्यापारों का ऐसा सामूहिक चित्र प्रस्तुत किया है जो अपनी कलात्मक क्षमता मे विशिष्ट है। अन्ततः कहा जा सकता है कि स्वाधीनता परवर्ती गाँव की बहुआयामी समाजशास्त्रीय पहचान तो इस उपन्यास का एक वैशिष्ट्य है ही, साथ ही साहित्यिक सन्दर्भ मे आँचलिक उपन्यासों मे भावुकता या दृष्टि विशेष से गाँव को न देखकर गाँव को गाँव की दृष्टि से या मानवीय दृष्टि से देखने का आग्रह भी यहाँ उपलब्ध है, ताकि वहाँ की मानसिकता अपनी समग्रता मे सामने आये।

कब तक पुकारूँ :
रांगेय राघव

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास एक विशालकाय आंचलिक उपन्यास है। इसके अन्तर्गत उत्पीडित एव शोषित जनजातियों विशेषकर नटों की व्यथा-कथा, आर्थिक शोषण एव तद्जनित सामाजिक-नैतिक मान्यताओं एव उनके बीच उभर रहे वर्ग-सघर्ष को रूपायित करने का यथार्थवादी दृष्टि से प्रयास किया गया है। उपन्यास की कथा आखिन देवी कम और कानन सुनी अधिक है तथा इसमें अनुभूतियों की गहराइयों के वर्णन हैं जिससे पाठक को गत्यावरोध अधिक नही खलता तथा प्रामाणिक अनुभवों के आसपास ही कथा बहती दृष्टिगत होती है। लेखक इस विषय मे स्वय स्वीकारता भी है कि, "इस कथा की वर्णनात्मकता मेरी है परन्तु तथ्य उसी (सुखराम) के दिये हुए हैं।"[1] इतना निश्चित है कि हिन्दी मे पहली बार इस खाना बदोश जाति की समस्त अतरगता उभरकर सामने आई है, जो इनकी अभिशप्त जिन्दगी की बडी सश्लिष्ट तस्वीर प्रस्तुत करती है तथा इगित करती है कि न इनके पास खेत-खलिहान हैं और न घरबार। खुले आसमान के नीचे धरती माता की गोद मे सोने वाले ये नट घास की तरह पैदा होते हैं और रौंदे जाते हैं। खेत-खलिहानों मे मजदूरी करके पेट पालने से भी ये वंचित हैं, क्योंकि कोई इनका भरोसा नही करता। बीयाबान जगल मे खूंख्वार जानवरो के बीच रहने, उनके शिकार करने, चोरी करने, शहद इकट्ठा करने-बेचने, दवाई गोली करने तथा रस्सियों पर खेल दिखाने के अतिरिक्त इनकी स्त्रियाँ ब्राह्मणो, ठाकुरों एव पुलिस वालों आदि से यौन-सबध निर्वाह कर अपनी रोजी-रोटी चलाती हैं।

उपन्यास के केन्द्र मे राजस्थान और ब्रज प्रदेश की सीमा पर बसे गाँव 'वैर' के इर्द-गिर्द का प्रदेश है जहां इन करनटो के डेरे है, यही इनकी बस्ती है। अज्ञान, अशिक्षा, अधविश्वास, गरीबी और शोषण के चक्र मे फँसी इस नटजाति के रीति-रिवाज, परम्परायें एव सास्कृतिक मान्यतायें बडी ही अजीब सी हैं। सुखराम नट इन्ही डेरो का बाशिदा है जिसकी कथा सारे उपन्यास मे फैली हुई, नट समाज की नग्न विकृत स्थितियो क्रूर एव भयावह परिस्थितियो का उद्घाटन करती है। सुखराम के अपनी नाते-रिश्तो की दुनिया बडी ही छोटी है जिसका फैलाव अत्यन्त सकुचित

---
[1] रांगेय राघव : कब तक पुकारूँ, पृ० १६।

है। माँ-बाप बचपन में ही चल बसे थे। इसीला नट और उसकी पत्नी सौनी ने उसका पालन-पोषण किया तथा बाद में बड़ा होने पर अपनी बेटी प्यारी से शादी कर दी। प्यारी को बाद में सिपाही रुस्तम खाँ जबरन हथिया लेता है, सुखराम बेचारा इसे भी सहता है, बाद में जब प्यारी भी उपेक्षा सी करने लगती है तो कुर्री की पत्नी कजरी को अपनी पत्नी बना लेता है। रुस्तम खाँ के यहाँ रहते हुए प्यारी मन से सुखराम से बँधी रहती है, उसे और रुस्तम खाँ को भयानक बीमारी हो जाती है लेकिन सुखराम दोनों का इलाज करता है तथा ठीक कर देता है। घूपो (विधवा चमारिन) को बाँके से बचाने के कारण सुखराम उसका दुश्मन बन जाता है। रुस्तम खाँ बाँके का ही समर्थक है और प्यारी को हेय दृष्टि से देखता है। एक दिन संयोग से प्यारी और कजरी इकट्ठी हो जाती हैं और दोनों बाँके तथा रुस्तम खाँ की हत्या कर देती हैं। सुखराम उन्हें आग की लपटों से बचाकर दूर नटों के डेरे में रातों रात ले जाता है, क्योंकि सिपाही रुस्तम खाँ के घर में चमारों ने आग लगा दी थी। प्यारी बाद में मर जाती है और रह जाती है कजरी। एक दिन पहाड़ पर घूमते हुए कजरी और सुखराम एक अंग्रेज अफसर की लड़की सूसन की डाकुओं से रक्षा करते हैं और सूसन उन्हें अपने घर पर नौकरी दे देती है। इसी बीच वहाँ एक लारेंस नामक अंग्रेज युवक आता है वह सूसन पर आसक्त हो जाता है, रात को शराब पीकर उसके साथ बलात्कार करता है, सूसन चीख उठती है, कजरी और सुखराम उसकी खूब पिटाई करते हैं। सूसन को गर्भ रह जाता है, सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु सूसन के पिता कजरी और सुखराम के साथ सूसन को बम्बई भेज देते हैं ताकि कजरी और सूसन दोनों वहां बच्चों को जन्म दें। कजरी वहीं पर मर जाती है सूसन लड़की को जन्म देती है और उसे सुखराम को सौंप इंग्लैंड चली जाती है। यही लड़की बड़ी होकर चंदा कहलाती है, जिसका ठाकुर के लड़के नरेश से प्यार हो जाता है, सुखराम को उलाहने और प्रताड़ना इसके कारण सहनी पड़ती है और वह उसका गला घोंट देता है तथा सुखराम को सजा हो जाती है। इस प्रकार नरेश और चंदा के प्रेम से प्रारंभ होकर कथा नटों के जीवन को विविध मोड़ों से व्याख्यायित कर चन्दा की मौत और नरेश के पागलपन पर समाप्त हो जाती है।

इस छोटे से कथानक वाले विशालकाय उपन्यास में संघर्ष का मूल उत्स घूपो (विधवा चमारिन) के साथ बाँके (जो कि ऊँची जाति का है तथा जिसकी साठ-गाँठ सिपाही रुस्तम खाँ से है) का बलात्कार है। एक बार तो सुखराम अचानक उचित मौके पर आ जाता है और उसकी रक्षा हो जाती है जिसका फल उसे लाठियों के गंभीर प्रहारों से सहना पड़ता है और महीनों खाट सेकता है। लेकिन दूसरी बार घूपो की लाज लुट ही जाती है, और वह आकर चमरियाने में जब करुण चीत्कार करती है और चिल्ला-चिल्लाकर बच्चों को बिलखते छोड़ दीवार में टकराकर सिर-फोड़ लेती है तथा अपनी जान दे देती है तो चमार पट्टी में आग भड़क उठती है। इसी बीच सुखराम भी वहाँ पहुँच जाता है, और आग में घी की आहुति डाल देता

है। जवान खचेरा, राजाराम, पीतो, बुद्धा, पेंगा, रापू आदि सभी एक स्वर से प्रतिशोध को तैयार हो जाते हैं और सब चमारों की भीड़ से घिरे गरमागरम नारे लगाते हुए रुस्तम खाँ के घर की ओर बढ़ते है। उनका विश्वास था कि बाके वहीं पहुँचा होगा। सारा वातावरण भयानक आक्रोश से भर उठा, नारों की आवाज में भयानक दर्द था। भीड की इस हाय-तोबा मे निरोती बामन ने अपने हृदय में छिपी बदले की भावना से प्रेरित हो, अँधेरे मे रुस्तम खाँ के घर मे आग लगा दी, क्योंकि मामला तो आखिर चमारों के सिर ही मढा जाता। करे कोई भरे कोई और आखिर हुआ भी ऐसा ही। बेचारे चमारों पर खूब दमन चक्र चला। बाहर से यो आग लगी और अन्दर कजरी और प्यारी ने बाके और रुस्तम खाँ को जो शराब मे बुत थे, अपनी कटारों से सदा के लिए सुला दिया, क्योंकि वे दोनों उनकी जिन्दगी और सुखराम की जिन्दगी से खेल रहे थे। सुखराम को पता तो था ही, वह आग की धू-धू करती लपटों की परवाह छोड अन्दर पहुँच कजरी और प्यारी को मकान की खिडकी की सलाखें तोड जैसे-तैसे रस्सी के सहारे उतार और दोनों को साथ ले रातों-रात डांग के पूरब मे पहाड की ओट मे घने जंगलों में चला गया जहाँ गुजराती नटों का गढ है। वहां का राजा भी नट है और वहा, "दरोगा तहसीलदार सब भैया-भैया कहते हैं। दिन दहाड़े गोली चलती है। वहा नही चलती किसी की। राजा के लिए सब जान देते है। पर भीतरी मामलो मे सब आजाद हैं।"[1] ऐसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचकर भी सघर्षशील सुखराम को भला चैन कहा ? वह यह जानने के लिए निरंतर चिन्तित रहता है कि आगे क्या हुआ ? अत. कजरी और प्यारी को छोड अपने डेरे मे वह फिर गांव पहुँचा। चमारो के मोहल्ले मे पहुँच भूखो की चीत्कार सुनता है, बच्चो को तडपते देखता है, औरतो को मिर्चें तक भरी गईं, पंगा की बहू का पिटाई से पेट ही गिर गया आदि दर्दनाक घटनायें जब रोती हुई औरतों से सुनता है तो आन्दोलित हो उठता है। वह रोती हुई खचेरा की पत्नी को धीरज बँधाता है तथा उसमें आशा का संचार करता हुआ कहता है, "तुम यों रोओगी तो इनकी इच्छा तो पूरी हो जायेगी" तुम डरोगी तो इनकी हिम्मत बढेगी। रोओ नही भाभी। उनको जुल्म करने दो, तुम रोओ नही। सहो, और नहीं सहा जाता तो लडो।" हम नट है। हमारे पास कुछ नही। हम जुआरी, चोर, उचक्के, बेईमान, कमीने, धोखे-बाज, झूठे हैं। हमारी औरतें कुतियो की तरह रहती हैं। ये सिपाही, ये बडे लोग उन्हे बीमारी देते हैं। फिर वे औरतें वे ही बीमारी हमे देती है। फिर हम मरते हैं। मरते वक्त गुस्सा आता है तो कत्ल तक करते हैं। हम कभी किसी का भला नही कर पाते, हमे मौका मिलता है तो हम लोगो को ठगने का जतन करत हैं। जो भूख मरते हुए किसान हैं वे भी हमसे सुखी हैं। उन्हें बौहरा नोंचता है, वकील ठगता है, पुलिस खाती है, सब चूसते हैं, पर हम बेघरबार कुत्ते की तरह घूम-घूम-

कर जूठन खाने को अपनी आजादी कहते है।"[1] दुखिया को धीर बँधाने के लिए कहे गये इस लम्बे कथन मे सुखराम ने नटजीवन की उन तमाम विसगतियो, सघर्षो, परेशानियों एवं नैतिक-अनैतिक स्थितियो का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिनमें उनका जीवन निरन्तर टूटता रहा है।"

लेखक जो स्वय इस उपन्यास का एक पात्र है, इस उपन्यास की सुनी-सुनाई कथा को कहता है तो वही-कही उसे भी उदरिक्त होना पडता है तथा उसमे आभिजात्य वर्ग के प्रति तीखी जलन और तल्खी दिखलाई पड़ती है। यह तल्खी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो स्तरो पर है तथा यह तल्खी विविध पात्रों मे विविध रूप से विविध प्रसगों मे उत्पन्न होती है, कही वह भोक्ता के अपने शब्दों में प्राप्त होती है तो कही वह देखने वाले के मुँह से प्रकट होती है। प्यारी सिपाही रुस्तम खाँ के घर रखैल रहकर भी कितनी दुखी है—यह हमे रुस्तम खाँ के कमीने व्यवहार एव कजरी (उसकी सौत) द्वारा अनुभूत दर्द से होता है, जब वह दुनिया से ही विरक्त हो उठती है, "ये दुनिया नरक है। हम गन्दे कीडे है। तूने यह संसार ऐसा क्यो बनाया है जहाँ आदमी कटता है तो इसके लिए दर्द तक नही होता। यहाँ पाप इतना बढ गया है कि गरीब और कमीना आदमी कोढी बनकर अपने पेट के लिए अपनी अच्छी देही को गन्दा बना लेता है। यहाँ एक-एक आदमी दबता है, पर हम तो कमीन हैं। वो बडे लोग क्यो करते हैं ऐसा? क्या वे अपने धन और हुकूमत के लिए आदमी पर अत्याचार करते से नहीं काँपते? तू चुप है। तू जवाब नहीं देती। नट की छोरी पर जवानी आती है और गन्दे आदमी उसे बेइज्जत करते हैं, फिर भी वह रडी की तरह जिए जाती है। मर क्यों नही जाती। हम सब मर क्यो नहीं जाते?"[2] चदा और नरेश के सन्दर्भ मे बेचारी सुन्दर चदा को ठाकुरो की पिटाई सहनी पडती है, अपने पति नीलू नट की अवमानना झेलनी पडती है और अन्त होता है अपने बाप सुखराम के हाथों गला घुटवाकर, बेचारा नरेश पागल ही हो जाता है। घूपो को सिर फोड-कर मरना पडता है। प्यारी को भेलो (गुड) लेकर निरोती का ही नही होना पडता, पता नही कितनी नटनियो को कहाँ-कहाँ और किस-किस का बनना पडता है। सुखराम जैसे अनेक नट है जिन्हें अपने निजी सुख के क्षणो से भी वचित होना पडता है, उसके द्वारा प्यारी का दोहराया कथन सच्चाई की निर्मम एवं बेलाग अभिव्यक्ति है, "जब मैं उसके पास जाता था तो वह कहती थी, 'अभी नहीं।' मैं अभी थकी हूँ अभी तो वोहरे का बेटा गया है।[3] नैतिक-अनैतिक बोध से हीन इनकी स्त्रियों का हाल भूखी गाय-भैंसो जैसा है जो मानवीय एव सामाजिक दृष्टि से कितने शोषित हैं ये लोग जिन्हे अपनी स्त्रियों को भी दूसरो को देना पड़ता है। किसी भी नाद और खेत में मुँह मार लेती है। वस्तुत. पेट की आग या समृद्ध वर्ग का उत्पीड़न ही इनकी

---

१ रांगेय राघव : कब तक पुकारूँ, पृ० ३७७-३७८।
२. वही, पृ० ३७८।
३. वही, पृ० १५०।

अनैतिकता का कारण है। इन सब नृशंसताओं के बावजूद लेखक आजादी के पहले चरण में रियासतों की समाप्ति आदि में सामंतवादिता को ढहता देखता है और भविष्य के प्रति अत्यन्त आशावान दृष्टिगत होता है कि, "शोषण की घुटन सदा नहीं रहेगी। वह मिट जाएगी, सदा के लिए मिट जाएगी। सत्य सूर्य है। वह मेघों से सदैव के लिए घिरा नहीं रहेगा। मानवता पर से ये बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और तब नई शरद में नये फूल खिलेंगे, नया आनंद व्याप्त हो जायेगा।"[1] लेकिन स्थिति अभी उसी ठहराव बिन्दु पर है और वर्तमान काल में वह मोह बुरी तरह भंग हो रहा है।

रांगेय राघव के *'कब तक पुकारूँ'* उपन्यास में चित्रित नट समाज की सांस्कृतिक छवियाँ, रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, टोने-टोटके एवं विविध रीति-रिवाजों ने नव्यता के कोई नये आयाम नहीं खोजे हैं, वे लगभग सभी वही हैं जो हमारे गाँवों में दिखलाई पड़ते हैं। भूत-प्रेत की परिकल्पना, देवी-देवताओं की मनौतियाँ, एवं जड़ अंधविश्वासों की दुनिया वहाँ अभी काफी अंधकारमयी है, शैक्षणिक चेतना का प्रकाश *अभी वहाँ नहीं पहुँच पाया है। अंधविश्वासों ने इन्हें काफी जकड़ा हुआ है।* सुखराम जैसा संघर्षशील पात्र भी पुलिस के दरोगा से बदला लेने के लिए चन्दन से हाँडी चलवाने मरघट में आधी रात को जाता है, जिसके लिए उसे गाँव के एक घर में सेंध भी लगानी पड़ती है। नटराज की पदवी के लिए बलि देना सामान्य सी बात उन्हें लगती है। बीमारियों के इलाज तावीजों से, झाड़-फूँक से प्रायः होते हैं। अंग्रेज *लड़की सूसन साँप के काटे का इलाज मंत्रों से देख आश्चर्यचकित हो उठती है। अंचल* विशेष के प्रचलित रीति-रिवाज विविध परिस्थितियों के अंकन में सोद्देश्य कम, यथातथ्य अधिक हैं। लोक-गीत एवं उत्सव-त्यौहारों की छटा काफी फीकी रह गई है।

'कब तक पुकारूँ' के वैर नामक गाँव में शोषण का बहुआयामी जाल पुलिस ही फैलाती दृष्टिगत होती है। गाँव वालों पर हो रहे हर प्रकार के अत्याचार की कुंजी पुलिस के ही हाथों में है। इसका भेद यों तो यत्किंचित् घटनावलियों से मिलता ही रहता है लेकिन उसका पूरा इतिवृत्त उसी समय सुनाई पड़ता है जब बाके धूपो के साथ बलात्कार करके रुस्तम खाँ सिपाही से अपना समर्थन चाहता है, और रुस्तम खाँ कुछ उत्साहवर्धक उत्तर नहीं देता। इसी दौरान वह उबल पड़ता है और इसी उबाल में कहनी अनकहनी सब कह डालता है जिससे अनेकों रहस्य उद्घाटित होते हैं। पुलिस ही भ्रष्टाचार का स्रोत नजर आती है। उसी के इशारों पर विधवाओं की लाज लूटी जाती है, घरों में सेंध लगाई जाती है, रातों-रात खेत कटवाये जाते हैं, खूटों से बैल खुलवाये जाते हैं एवं जुआ आदि का संचालन इन्हीं के इशारे पर तो होता है। इसका साक्षी रुस्तम खाँ को कहे गये बाके के ये शब्द हैं, "तुम्हारे हुक्म पर मैंने चरनसिंह ठाकुर के सेंध लगाई, तुम्हारी बात का मोल समझकर मैंने जुए के

---

१ रांगेय राघव : कब तक पुकारूँ, पृ० ६३४।

अड्डे से रुपया वसीला, तुम्हारी एक निगाह के लिये भीकम की तिजोरी को तोडा। जिसने तुम्हारे लिए गोजा गूजर के घर मे कमल चौधरी की भैंस बाँधकर उसकी चोरी की, झूठी गवाही दी और हवालात में जाकर उसके बदन पर बूरे का पानी छिड़का और चीटियो से उसे कटवाया, जिसने रात-रात भर इस बात की चौकीदारी मे गुजार दी कि तुम पर पराई औरतों के संग छिनाला कर सको, जिसने तुम्हारे लिए मनसुखलाल किसान के भरे खलिहान में आग लगा दी और जिसके बच्चे तडप-तडप कर भीख माँगते रहे, जिसने चमारों की हाट मे तुम्हारे लिए लूट मचवा दी, क्योंकि चमारों ने तुम्हें रिश्वत देने से इकार किया था, तुम उसी को आज थोथा जवाब देते हो।"[1] यही नही जमीन पर जोरजबर से वसूली करते वक्त जुल्मों की नई-नई ईजाद, रिश्वत लेने के नये-नये हथकण्डे, लोगों से व्यक्तिगत बातों के बदले पैसा निकालने की नयी-नयी तरकीबें इनकी बुद्धि-चातुर्य के चमत्कार हैं। पुलिस की इन अनिवार्दिताओं ने गरीबों और दलितो मे रोष के स्वर दिये हैं तथा चेतना की चिंगारी उनमे भी सुलगने लगी है। कजरी और प्यारी, सुखराम और खचेरा आदि के विविध कार्य इस ओर पाठको का ध्यान खीचते हैं।

'कब तक पुकारूं' में द्वन्द्वात्मक चेतना के विविध स्तर हैं। इसमें अनेक कचोट और कसकें हैं। अनेक विवशतायें और मजबूरियाँ हैं। मार्क्सवादी लेखक ने इनसे गुजर कर बडी गहराई से पग-पग पर लगने वाली साधारण जन की ठोकरो और आपदाओ का पर्यवेक्षण किया है। रागेय राघव साहित्य को फंक्शनल औजार के रूप मे इस्तेमाल न कर मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना के विविध आवर्तों का रेखाकन आवश्यक मानते थे। सतही नारेबाजी उन्हें कभी अभीप्सित न रही और इसका प्रतिवाद उन्होने वक्तव्यबाजी या लेखों तक सीमित न कर अपनी रचनाओं के पात्रों के अन्तर्जगत मे पैठकर किया। जिसका प्रमाण है सुखराम, नरेश, प्यारी, कजरी चंदा जैसे सजीव पात्रो की उद्भावना। इन चरित्रों मे द्वन्द्व का मार्क्सवादी ढर्रा नही है। द्वन्द्व केवल वर्गगत ही नही होते अपितु कई और अन्त प्रेरणायें और आकाक्षायें भी इसके पीछे कार्य करती रहती हैं। मनुष्य का समझना एक अथाह सागर के स्वभाव को जानने के बराबर ही है। क्योंकि मानवमन एक साथ परस्पर-विरोधी स्थितियो को एक साथ पचा लेता है। बाह्य वर्ग-बोध यहाँ अप्रासगिक बन जाता है और भावना की छाया जाति और वर्ग को ढक लेती है। जो भी हो इतना निश्चित है कि 'कब तक पुकारूं' में द्वन्द्व-बोध को सुखराम की कथा के साथ लेखक ने बखूबी बुन दिया है और गांठें इक्का-दुक्का ही नजर आती हैं।

'कब तक पुकारूं' कथा-संरचना की दृष्टि से आंचलिक होकर भी अनांचलिक-सा लगता है। उसके कथातंतुओ मे न आंचलिक उपन्यासों की मश्लिष्टता है और न बिखराव, हाँ फैलाव अवश्य है। तिलस्मी उपन्यासों की सी चासनी अधूरे

---

१. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० ३४१।

महल की परिकल्पना ने उपन्यास में खूब दी है और अथ से इति तक परिव्याप्त नरेश और चन्दा की प्रेम-कहानी बिल्कुल अनावश्यक-सी प्रतीत होती है। लेखक जिस मुस्तैदी और चुस्ती से कथानक का प्रारंभ लेकर चला था, उसे अंत तक नहीं निभा पाया है, जिसके कई कारण हो सकते हैं जैसे उसकी वैचारिक दृष्टि, कथानक का स्वानुभूत न होना, तिलस्मी प्रकार की घटना को वृथा बीच में लाकर दूर तक खींचना और कहीं न कहीं प्रासंगिकता बैठाना आदि। जो भी हो कथानक फिर भी पाठक को यथाविधि बांधता है। बीच-बीच में लेखकीय वक्तव्यबाजी अपनी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए कितनी भी क्यों न आवश्यक हो, वह कृति के रचाव में शैथिल्य लाती है और वह शैथिल्य कृति में है, यद्यपि स्वयं लेखक एक पात्र बनकर इस कथा में अपनी वक्तव्यबाजी को जस्टीफाई करने का प्रयत्न करता दृष्टिगत होता है। इसमें पात्रों की संख्या अपने कलेवर की तुलना में कम ही है तथा पात्र वर्गगत विशेषतायें रखते हुए भी व्यक्ति चित्र से दृष्टिगत होते हैं। सुखराम, प्यारी, कजरी यदि प्रमुख पात्र हैं तो रुस्तम खाँ, बाँके, नरेश, चन्दा, इसीला, सौनो, चक्खन, गिल्लन, धूपो, सूसन, लारेंस आदि गौण पात्र हैं। ये पात्र एक-दूसरे के निमित्त ही होकर आते हैं अत. अचल विशेष की विविधता को उद्घाटित करने में कमजोर पड जाते हैं। आँचलिक उपन्यासों में नायकत्व अचल और उसकी समग्रता में निहित होता है, लेकिन 'कब तक पुकारूँ' के सन्दर्भ में इसका दावेदार सुखराम ही दृष्टिगत होता है। यह बात वस्तुत सत्य है कि सुखराम, प्यारी और कजरी तीनों ही के आसपास सारी कथा घूमती है।

रांगेय राघव के इस उपन्यास का भाषिक रचाव साहित्यिक उत्कर्ष से मंडित है तथा यह शायद इसका सर्वाधिक गुणात्मक पक्ष है। कुशल कथाशिल्पी रांगेय राघव ग्रामीण अंचल को उसके समस्त प्राकृतिक परिवेश के साथ चित्रित करने में निःसंकोच सफल रहे हैं। उनका यह चित्रण अत्यन्त काव्यात्मक है जिसमें लेखकीय भावुकता एवं रोमानियत संवेदनशीलता को और बढ़ा देती है। उपन्यास में गुँथे हुए विविध प्रसंग जैसे सुखराम के घायल होने पर कजरी का करुण रोदन, धूपो के साथ बलात्कार की घटना, प्यारी की मृत्यु और सुखराम का मन स्थिति चित्र तथा धूपो का करुण-क्रन्दन आदि के दृश्य बड़े ही अनुभूत्यात्मक चित्र हैं। लेखक को लोकजीवन की गहरी पहचान है जिसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि उसने लोकजीवन के इतने नये उपमान प्रयुक्त किये हैं, यदि एकत्रित कर लिये जायें तो भाषायी देन के मूल्यांकन के नए आयाम उभर कर सामने आ सकते हैं। जन-जीवन में प्रयुक्त शब्दावली एवं मुहावरों का प्रयोग भी लोक-जीवन की विविध छवियों एवं मुद्राओं को स्थापित करने का सबल माध्यम है लेखक ने उसका खूब प्रयोग किया है।

भावगत बिम्बों, प्रतीकों एवं ध्वनियों का अद्भुत प्रयोग हुआ है जिसने भाषा को सम्प्रेषणता दी है। उदाहरण के लिए बांके द्वारा धूपो के साथ बलात्कार का संदर्भ ले सकते हैं, जिसमें लेखक ने वहाँ के वातावरण का चित्र खींचा है, "अंधियारा

और घना हो गया और कोई भी तारा जैसे उसकी पर्तों को हटाने और काटने में असमर्थ हो गया। खेतों में हवा सनसनाने लगी और दूर-दूर तक आकाश में भागती फिरती। यातना-सी कर उठती। और फिर जैसे आत्मीयता का चीत्कार करती हुई रोने लगती। खेत हिलते, और कांप उठते। उनकी अपनी सत्ता आप लज्जा से डूब रही। कुएँ की उदासी निकल कर अब उसकी जगत पर पड़े चरस में भर गई। और चरस से पानी की जगह विवशता गिर रही थी। अब कौन उसे पिए? कोई पक्षी नहीं उड़ता, कोई आवाज नहीं आती। और नीरवता जब स्थापित है तो समय अनन्त हो गया है।"[1] आदमी की क्रूर निर्दयता के विपरीत प्रकृति की निरीह बेबसी की स्थितियाँ अंधकार से जूझते तारों की टिमटिमाहट में, हवा की सांय सांय-कर भागते फिरने में, खेत के हिलने और कांप उठने में, कुएँ की उदासी में एवं वातावरण के ठहराव में अपनी व्यथा-गाथा कहती दृष्टिगत होती है। लेखक में अभिव्यक्ति की अनन्त क्षमतायें हैं। वह अपने वर्णनों में आलंकारिकता की अद्भुत छटा प्रस्तुत करता है। अतः कहा जा सकता है कि 'कब तक पुकारूँ' की भाषा में आंचलिक स्वर और संदर्भ चमत्कारिक न होकर सर्जनात्मक अनिवार्यतावश ही है, लेखक व्रज प्रदेश में प्रचलित गालियों जैसे—दारी, साला, नास पीटे, कढ़ी खाये, दयी-मारी, रंडी, चुड़ैल, छिनाल, लल्लू का पट्ठा आदि के प्रयोग भी यथार्थ के उजागर करने हेतु ही करता है। ●

---

१. रांगेय राघव : कब तक पुकारूँ, पृ० २१७-२१८।

आधा गाँव :

राही मासूम रजा

राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' बहुचर्चित आंचलिक उपन्यास है। प्रयोगधर्मिता इसका मुख्य स्वर है जो यही इसके रूप और रचाव में द्योतित होती है तो यही संवेदनाओं की सघन बुनावट में। लेखक ने उत्तर प्रदेश के एक गाँव गंगौली (जो गाजीपुर जिले में है) *के आधे टुकड़े को ही अपना कथा-क्षेत्र बनाया है*, जिसका कि वह प्रामाणिक भोक्ता एवं जानकार है। उसने आपबीती और जगबीती जिन्दगी के तीन-चार दशकों के अन्तराल में फैले हुए समय की कहानी कही है जो न धार्मिक है न राजनीतिक। बकौल लेखक "यह गंगौली में गुजरने वाले समय की कहानी है। कई बूढ़े मर गये, कई जवान बूढ़े हो गये, कई बच्चे जवान हो गये *और कई बच्चे पैदा हो गये। यह उम्रों के इस हेर-फेर में फँसे हुए* सपनों और हौसलों की कहानी है। यह कहानी है उन खण्डहरों की जहाँ कभी मकान थे और यह कहानी है उन मकानों की जो खण्डहरों पर बनाये गये हैं।"[1] गंगौली गाँव की हकीकत को पकड़ विविध कोणों से हुई है, जो लेखकीय रचनात्मक दृष्टि का उद्दिष्ट रहा है। उपन्यासकार राही ने अपने कथा-सफर में बनते-बिगड़ते आर्थिक सम्बन्धों, उभरते राजनीतिक प्रश्नों, फैले हुए *सामाजिक परिदृश्यों, सांस्कृतिक* मुस्लिम पर्व-त्यौहारों एवं परम्परागत मूल्यों आदि सभी को यथेष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है ताकि अधूरे गाँव की समग्रता पूरी तरह पकड़ में आ जाये भले ही उपन्यास की बुनावट का स्वरूप कुछ और हो जाय।

हिन्दी उपन्यास-जगत् में शायद पहली बार मुस्लिम जन-जीवन की भीतरी-बाहरी सच्चाइयाँ, अपने विविध रंगों में अच्छी-बुरी परछाइयों को लेकर प्रस्तुत हुई हैं, जिनसे निश्चय ही भारतीय जिन्दगी का एक और कोना उजागर हुआ है। लेखक (राही मासूम रजा) स्वयं सपरिवार उपन्यास में उपस्थित हुआ है और कहानी का प्रारम्भ किया है अपने बचपन से। बचपन में न समझ आने वाली बातें जिन्हें आज वह खूब समझता है बखूबी चित्रित करता है और किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं करता। अपने नाते-रिश्तों के परिचयात्मक विवरणों के बाद उनके अच्छे-बुरे

---

१. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० ११।

क्रिया-व्यापारों को बड़ी निस्संगता एवं समीपी-द्रष्टा के रूप में चित्रित करता है। कहानी में न कोई तराश है, न प्रतिबद्धता स्वाभाविक रूप से गाँव की जिन्दगी के साथ बहती है। वह साफ रूप से स्वीकार करता है कि, "ऐरी-गैरी औरत घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था। शायद ही मियाँ लोगों का कोई ऐसा खानदान हो जिसमें कलमी लड़के-लड़कियाँ न हों। जिनके घर में खाने को भी नहीं होता वे भी किसी-न-किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवारों का शौक पूरा कर ही लेते हैं।"[1] मुस्लिम जिन्दगी की परम्परागत यौन-सम्बन्धी नैतिकता की यह एक जीवन्त सच्चाई है। गंगौली गाँव की दोनों पट्टियों (उत्तरी एवं दक्षिणी) में लगभग सैकड़ों चेहरे दिखलाई पड़ते हैं जो इस कथन को सत्यापित करते हैं। स्त्री पात्रों में मेहरुनिया, सैफुनिया, जमुर्रद, गुलबहरी, कुलसुम, बछनिया, गुलाबी जान, झंगटिया बो आदि प्रमुख हैं तो पुरुष पात्रों में मज्जूर मियाँ, सुलेमान, हम्माद मियाँ, फुन्नन मियाँ, गुज्जन, फुस्सू, मिगदाद, तन्नू, मौलवी बेदार, कमालुद्दीन, सद्दन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। शिया-सुन्नी का पारस्परिक भेद मानते हुए भी नीच जाति की स्त्रियों को दोनों ही प्रकार के मुसलमान अपने-अपने घरों में रखते हैं और अपना दम्भ पालते हैं। नीच जाति की मेहरुनिया, सैफुनिया, झगटिया बो, बछनिया आदि ही जमींदारों की हुई हों ऐसी बात नहीं अपितु गंगौली की इन दोनों पट्टियों में दर्जनों ऐसी छोटे-बड़े परिवारों की लड़कियाँ हैं जो कभी चोरी-छिपे और कभी उजागर शारीरिक सम्बन्धों को बिना किसी भेद-भाव के निबाहती हैं और सुर्खरू भी रहती हैं। अब्बू मियाँ की सईदा कई के साथ फँसती है और कई पेट गिराती है, लतिफनी प्रथम मिलन में ही तन्नू की हो जाती है, सितारा अपने को अब्बास को सौंपती है, तो कुलसुम को फुन्नन मियाँ उसके पति से जबर्दस्ती हथिया लेते हैं, सल्लो तन्नू की होकर तनहाई सहती है तो गुलाबी जान ठाकुर हरनारायण थानेदार की बाहों का सहारा ढूँढती है। कुँवरपाल सिंह और गुलबहरी, बरकतुआ और कामिला, छिकुरिया और मगफिए, बछनिया और सफरिवा, बदरुन और समीउद्दीन आदि ऐसे अनेक पात्र हैं जो अपने शारीरिक सम्बन्धों के निर्वाह की कथा कहते हैं। लेखक की बेलाग दृष्टि गाँव के इन यौन-सम्बन्धों के चित्रण में खूब रमी है जिससे मुस्लिमों के सेक्स-सम्बन्धी रुझान का तो पता चलता ही है कि वे कितने रोमानी हैं, साथ ही उर्दू की अति यथार्थवादी शैली का प्रभाव भी छिपाये नहीं छिपता।

मुस्लिम जनजीवन के पर्व-त्योहारों का वर्णन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है जिससे गंगौली का लोक-जीवन स्पष्ट होता है। प्रारम्भ से अंत तक कई बार ताजिये निकलते दृष्टिगत होते हैं, मजलिसें जमती हैं, नौहों (मरसिया) के स्वर फूटते हैं। ईद-बकरीद की खुशियाँ मनायी जाती हैं, इमाम बाड़े चहल-पहल से भरे-भरे दिखाई देते हैं। गाँव हिन्दू परम्पराओं के ही स्रोत नहीं अपितु मुसलमानों के भी हैं तभी तो गंगौली गाँव में गाजीपुर से ही नहीं लखनऊ तक के मियाँ लोग आते हैं, अपनी मुरादों

१. राही मासूम रज़ा : आधा गाँव, पृ० १८-१९।

की मन्नतें मानते हैं। गाँव में महीनो पहले से ही ताजियों की तय्यारियाँ होने लगतीं, मातम की प्रैक्टिस की जाती और इन ताजियो मे हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही शरीक होते। इसका उदाहरण गाँव की वह ब्राह्मणी है जो हम्माद मियाँ से अपने दरवाजे पर उलतियाँ न गिराने की शिकायत करती है और उल्ती गिराने की प्रार्थना करती है। अपने बेटे को हुई सज़ा का कारण भी इमाम की नाराजगी मानती है। छोटे-बड़े ताजियों को लेकर लेखक ने दोनों पट्टियो के मनमुटाव, मारपीट और लट्ठ-बाजी जिसमें सिर फूटते है, लोग घायल होते हैं, थानेदार रुपया ऐंठता है आदि के दृश्य सही परिप्रेक्ष्य मे अंकित किये है। धार्मिक उत्सवों मे किस प्रकार छोटे-बड़े की राजनीति घर कर रही है तथा बडे जमीदार धर्म को भी अपनी जमीदारी बनाये बैठे हैं, इसी पर व्यंग्य करना लेखक को अभीष्ट रहा है। मोहर्रम की मजलिसो और नौहो की धुनो के रस मे सराबोर गाँव गगौली आज़ादी के बाद इमाम बाडों की खामोशी और खण्डहरो का गाँव बन गया। अजीब वीरानियत चारो ओर फैल गयी। अतः सद्दन के लिये सोचना यह स्वाभाविक ही है कि "वह गंगौली की आबादी पर खुश हो या गमगीन। वह पचायत की लगी रोशनी से या सैयद बाड़े के अँधेरों से खौफ खाये।"[१]

'आधा गाँव' उपन्यास मे उद्घाटित आजादी के पहले और बाद की विविध राजनीतिक स्थितियाँ एव पाकिस्तान के निर्माण के प्रश्न को बहुत दूर तक गगौली के आम आदमी की मानसिकता से जोडकर सोचने और विचारने का उपक्रम किया है। गंगौली की दोनो पट्टियों मे, दोनो पीढ़ियों के लोग अलग-अलग ही सोचते हैं। सफरिवा पाकिस्तान जाने मे हित समझता है तो मिगदाद हिन्दुस्तान मे रहने मे, कम्मो और सईदा सिर्फ अलीगढ को लेकर चिन्तित हैं जब कि बूढे हकीम सैयदअली कबीर अपने पारिवारिक संदर्भ मे ही घटनाक्रम को जाँचते हैं, "ए बशीर! ई पाकिस्तान त हिन्दू मुसलमान को अलग करे को बना रहा। बाकी हम त ई देख रहे कि ई मियाँ बीवी, बाप-बेटा और भाई-बहिन को अलग कर रहा।"[२] बेटे कुद्दन के पाकिस्तान चले जाने से हुए दर्द का अनुभव एक तीखी वास्तविकता है। अब्बू मियाँ पाकिस्तान के बनने मे जिन्ना को लाभान्वित मानते है तो रब्बन बी इस माटी मिले (पाकिस्तान) की समाप्ति ही चाहती हैं। गगौली के आम आदमी का सोच तो यही है कि यह पाकिस्तान क्या है, कैसे बनेगा और इससे क्या मिलेगा। अलीगढ से बार-बार लोगो के आने, सबकी तरक्की के रास्ते खुलने की बात समझाने, सभा-जुलूसों के करने के बावजूद कोई विशिष्ट चेतना दृष्टिगत नही होती अपितु वहाँ तो मिगदाद जैसे लोग दिखाई देते है जो साफ कहते हैं, "हम ना जाए वाले हैं वहो। जायें ऊ लोग जिन्हें हल बैल से शरम आती है। हम त किसान हैं, तन्नू भाई। जहाँ हमरा

---

१. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० ४०४।
२. वही, पृ० ३२१।

खेत, हमरी जमीन—तहाँ हम।"[1] इसके बावजूद पाकिस्तान बना और इस बनने में अनेक परिवार टूटे और अनेक प्रकार की आपदाओं के शिकार बने।

आजादी आयी, और वे दिन लद गये जब घर-घर तरह-तरह का खमीरा तैयार किया जाता था और किमाम के तजुर्बे होते थे। जमींदारी-समाप्ति के साथ ही गंगौली की पराश्रित आर्थिक जिन्दगी टूटने लगी। मुस्लिम जमींदारों ने इस प्रगतिशील कदम को बहुत कोसा, कांग्रेस को बहुत गालियाँ मिली, "अरे, ई कांग्रेस माटीमिली को कोढ़ हो जाये! इह की मिट्टी खराब हो···"[2] बड़ी-बूढ़ियों की दुआएँ बेकार गईं, हर नमाज में दी गई बद्दुआएं कोई रंग न लाईं। "इन लोगों के लिए पाकिस्तान का बनना या न बनना बेमानी था लेकिन, जमींदारी के खात्मे ने इनकी शख्सियतों की बुनियादें हिला दीं।"[3] जमींदार सैय्यद फुस्सू को जूतों की दुकान खोलनी पड़ती है, तो जवाद मियाँ बेटे (कमालुद्दीन) की डाक्टरी का प्रचार करते फिरते हैं, फुन्नन मियाँ अपनी यारी नये युग के मसीहा परसराम एम० एल० ए० से गाँठते हैं ताकि रोजी-रोटी चलती रहे। अपने हल-बैल पर आश्रित तो एकाध व्यक्ति मिरादाद जैसा ही दिखाई पड़ता है। संघर्षशील निम्न वर्ग भी पट्टी में है जो है जुलाहों का। लेखक रोजी -रोटी से जूझते हुए इन लोगों को भी देखता है, "दो तरफा मकानों से करघों की आवाजें आ रही थी—खट! खट! जुलाहे कमर तक जमीन दफन गाड़े के थान, गमछे और लुंगियाँ बुनने में जुटे हुए थे। जुलाहिनें बच्चों को दूध पिला रही थीं और आपस में बातें कर रही थीं। कुछ मैले कपड़े धो रही थीं और आपस में झगड़ रही थीं। सामने शीओं की मस्जिद का काम हो रहा था। दीवारों का कद निकल आया था। गड़ई के किनारे दो लड़के उकड़ूँ बैठे बीड़ी पी रहे थे और मछली के काटा खाने की राह देख रहे थे।"[4] गाँव की वास्तविक जिन्दगी का यह संश्लिष्ट यथार्थ चित्र है जो अपनी आड़ी-तिरछी रेखाओं में एक साथ कई बातें कह रहा है।

आजादी के बाद के गाँव के बदलते हुए भावात्मक एवं संस्थानिक दोनों रूपों को लेखक ने यथाशक्ति अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। गाँवों में जहाँ जमींदारी की समाप्ति हुई है, वहाँ एक नया छुटभइया वर्ग और पैदा हुआ है जो भ्रष्टाचारी है तथा रात-दिन षड्यन्त्रों के ताने-बाने बुनना, पुलिस से मिल गाँव में दलबन्दी करना, नये किस्म की ओछी राजनीति आदि इसके विविध कार्य हैं। कुछ फुन्नन मियाँ जैसे लट्ठबाज जमींदार भी इस नये वर्ग में हैं लेकिन आज वह भी यह मानते हैं, "अब गाँव में रहे के वास्ते इ जरूरी है कि आदमी के पीछे सौ पचास लाठी रहे कि मारे कि लठिया पीछे न रहिये न आगे आ जैयहे और दनादन पड़े लगिहे खोपड़ी

१. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० २६८।
२. वही, पृ० ३६७
३. वही, पृ० २६७।
४. वही, पृ० १२१।

पर।"[1] वास्तव मे स्थिति गड्ड-मड्ड की है। गाँव मे अभी जमींदार पूर्णरूप से मरा नही है। परसराम (चमार एम० एल० ए०) को जेल भिजवाना, फुन्नन मियाँ और छिकुरिया जैसे लट्ठबाजों की नृशस मौत इस बात का प्रतीक है। गगौली गाँव की गलियों मे लगे खरंजे, रात के अँधेरे मे जुगनी पंचायती लालटेनें जहाँ विकास-कथा को दर्शाती हैं वहाँ खण्डहरों की वीरानी अपने मौन मे कुछ और ही लिए हैं।

लेखकीय रचनात्मक जीवन-दृष्टि का स्पष्ट उभार दृष्टिगत नही होता यद्यपि उपन्यास मे आये विविध प्रसगो एव विभिन्न पात्रो के बीच इसकी बहुत सभावनायें थी। लेखक को नयी मानसिकता का अदाज तो है लेकिन पता नही या तो अपने ऊबड़-खाबड़ रूपायन मे असतुलनवश वह भटक जाता है या जान-बूझकर नकलीपन करता है। उपन्यास पढते समय बराबर यह शका बनी रहती है कि लेखक अमुक स्थिति मे अमुक गति करेगा लेकिन वह भ्रम का निर्माण करता है और परिणाम कुछ और ही निकलता है। यद्यपि भ्रम उत्पन्न करने मे लेखकीय कलात्मक क्षमता की विशिष्टता ही मानी जाती है, लेकिन इस उपन्यास के सदर्भ मे ऐसा नही है। लेखक निश्चित रूप से कुछ विशिष्ट मुद्दो को विशिष्ट ढग से स्थापित करता है और परिणामों की ओर उसकी सचेष्ट निगाहें निरन्तर भटकती रहती हैं। थाना कासिमाबाद के फूँके जाने की घटना, जमींदारी-समाप्ति का प्रसग, पाकिस्तान-निर्माण का प्रश्न तथा साम्प्रदायिक उन्माद के शमन आदि के प्रसगो मे लेखकीय वैचारिकता के पहलू अपनी समग्रता मे प्रकटित हैं। प्रगतिशील ओढना ओढने के अभिनयात्मक अदाज मे लेखक यत्किंचित् नगा रह गया है और पाठक उसकी बनावटी प्रवृत्ति को जान जाता है, जब वह नयी चेतना के प्रतीक परसुराम (चमार, एम० एल० ए०) को भ्रष्टाचारी करार देकर जेल भिजवाता है और गाँव के लट्ठबाज फुन्नन मियाँ और छिकुरिया की नृशस हत्या एक टूटे हुए जमीदार (हम्माद मियाँ) द्वारा करवा कर उसकी महत्त्वाकांक्षा को और बल प्रदान करता है। लगता है लेखक के मन मे कही-न-कही आज भी (उसके अवचेतन मन मे) उसका जमींदारपन छिपा है जो परसुराम चमार को नही सह पाता, अन्यथा समय की कहानी कहने वाला लेखक समय की इस वास्तविकता को न नकारता। कुछ लोग परसुराम को व्यग्यात्मकता का प्रतीक भी ले सकते है।

'आधा गाँव' उपन्यास अपनी सरचना मे विशिष्ट प्रयोगधर्मिता दृष्टि के कारण कुछ अलग ही दिखलाई पडता है। वस्तु सघटन मे बिखराव के साथ-साथ गहरा उलझाव है और यह उलझाव परिवेश की सघनता के कारण न होकर इसमे आये अनेक पात्रो के कारण है। पाठक कथारेशो की सपूर्णता पकड़ने मे तो असमर्थ रहता ही है वह पात्रो एव उनके रिश्तो की अजब भीड़-भाड़ मे बुरी तरह फँस जाता है और गंगौली गाँव की भौगोलिकता एव प्राकृतिक स्थितियों आदि को पूरी तरह

---

१. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० ४१६।

नहीं देख पाता। पात्रों एवं नाते-रिश्तों के दीर्घ सिलसिले को देखकर तो ऐसा लगता है कि आधे गाँव की मरदमशुमारी (जनगणना) की पूरी फहरिस्त तैयार करना ही लेखक को अभीष्ट रहा है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि आँचलिक उपन्यासों में प्रायः पात्रों की संख्या अधिक ही होती है, लेकिन इस उपन्यास ने पात्रों के संख्या-सम्बन्धी पहले सभी रिकार्डों को तोड़ दिया है। हिन्दी में सर्वाधिक पात्रों वाला शायद यह पहला उपन्यास होगा। आधे गाँव की पूरी आबादी ही इस उपन्यास में उपस्थित है। पात्रों के विषय में ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि शायद पहली बार ही उपन्यासकार स्वयं सपरिवार उपस्थित हुआ है। लेखक की दृष्टि विविध पात्रों के स्वभाव और उनकी मनःस्थितियों के चित्रण में लगभग बेलाग कही जा सकती है। मुस्लिम पर्व-त्योहारों एवं विविध गीतों के स्वरों से लोक-तत्त्व की सफल निर्मिति तो हुई है लेकिन संवेदनाशून्य, उबाऊ एवं असंतुलित विवरणों की भी यहाँ भरमार है और लेखक की पुनरावृत्ति की आदत पाठक को बार-बार खलती है। 'आधा गाँव' उपन्यास अपने भाषिक रचाव एवं शैली शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अपना अलग महत्त्व रखता है। उर्दू और भोजपुरी का प्रयोग विविध पात्रों को उनके यथार्थ स्वरूप में देखने एवं प्रामाणिक चेहरे प्रदान करने के लिए हुआ है। बोलचाल के शब्दों से रचे गये वाक्य अनुभूतियों के विविध स्तरों को खोलने में समर्थ दिखलाई पड़ते हैं। भाषा में काव्यात्मकता, व्यंग्यात्मकता एवं सहजता तो है लेकिन रिपोर्ताज शैली की प्रयोगधर्मिता यत्र-तत्र अस्पष्टता की गुंजलकें भी डालती दृष्टिगत होती हैं। बोली के स्रोत से जुड़ी हुई राही की भाषा में मुहावरे, सूक्तियाँ और गालियाँ खूब हैं। लेकिन जिन्दगी की स्पष्ट और दो टूक अभिव्यक्ति का माध्यम गालियाँ नहीं हैं, यद्यपि किसी विशिष्ट संदर्भ में भाषा की जिन्दादिली का तेवर इनमें भी निहित होता है। गालियों का प्रयोग जिस मुस्तैदी से किया गया है उससे भाषा की सच्चाई, खरापन या जिन्दगी के रवैये को 'एज इज इट' देखने या झेलने की बात तो मात्र वकालत ही दिखाई देती है। यहाँ गालियों का प्रयोग गालियों के लिए हुआ है जिसमें रचनात्मकता की माँग कम और लेखकीय मसीहापन ही बोलता है—पात्र फुन्नन मियाँ, मिगदाद, अब्बू मियाँ, या हम्माद मियाँ के चरित्र तो पीछे रह जाते हैं। अंतिम दो अध्यायों से पूर्व 'भूमिका' भी लेखकीय शैलीगत प्रयोगशीलता की ही देन है न कि अनिवार्यता की उपज, जैसा कि लेखक ज्ञापित करता है। इसके द्वारा लेखक ने अपना रहा-सहा पूरा वंश-परिचय, अपनी साहित्यिक समझदारी एवं तत्संबंधी मान्यताओं आदि का आत्मोद्घाटन बड़ी ही कुशलता से किया है।

अन्त में कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि राही अपने कथा-सफर में गंगौली गाँव के माध्यम से मुस्लिम जन-जीवन की अंतरंगता को विविध कोणों से आँकने में सफल रहे हैं और आजादी के पूर्व एवं बाद की विविध स्थितियों का लेखा-जोखा अपनी संपूर्णता में बहुत कुछ अपूर्ण भी रह गया है।

राग दरबारी :

श्रीलाल शुक्ल

श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' उपन्यास सातवें दशक का एक विशिष्ट उपन्यास है जो अपने रूप-बन्ध मे कथात्मक अनुभवो की अनन्त व्यंग्यात्मक छवियो के माध्यम से नगर से कुछ दूर बसे हुए गाँव शिवपाल गंज की कथा कहता है। शिवपाल गज उसका जाना-पहचाना गाँव है जिसकी जिन्दगी आजादी के बाद सक्रमणशील स्थितियो के भँवर मे बुरी तरह फँस गई है, प्रगति और विकास के नारो के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवाछनीय तत्त्वो के आघातो के कारण वहाँ की नैतिकता, सामाजिकता एव पारस्परिकता बुरी तरह टूटती दृष्टिगत होती है। यह उन्हीं टूटनो का व्यग्यात्मक दस्तावेज है। राजनीति वहाँ की जिन्दगी मे सक्रामक रोग की तरह नस-नस मे व्याप गई है और क्या छोटी क्या बडी तरह-तरह की समस्यायें उसी से फूटती दृष्टिगत होती हैं। लेखक की यथार्थवादी दृष्टि ने इस सत्य का अनावरण अपने नये-पुराने अनुभवों की सश्लिष्ट बुनावट से किया है जिसमे विविध प्रसग, रोजमर्रा की घटनाएँ एव जानी-पहचानी विषम गतिविधियाँ इस तरह परस्पर अनुस्यूत हुई हैं कि कृति को एक नया कथात्मक अदाज मिल जाता है।

'राग दरबारी' की कथा कोई सिलसिलेवार कथा नही है, लेखक ने अपनी सूक्ष्म एवं सशक्त व्यंग्य-शैली से शिवपाल गज के समस्त जीवन-तन्तुओ को विविध कोणों से पकड़ने का प्रयास किया है। इस प्रयास मे लेखक का यथार्थ के प्रति बड़ा ही निर्मम एवं निस्सग रवैया रहा है। उपन्यास के केन्द्र मे शिवपाल गज-स्थित छगामल इण्टर कालिज है, जो पार्टीबन्दी और राजनीति का विषम अखाड़ा सिद्ध होता है। प्रिंसिपल एव अध्यापको मे तनाव तो वहाँ की दैनिक विसगति है। कालिज के मैनेजर वैद्यजी की तो बात ही क्या है? वे तो एक साथ शिवपाल गज के नेता, जाने-माने वैद्य, कोआपरेटिव सोसाइटी के डाइरेक्टर एवं पंचायत के सर्वेसर्वा हैं। कालिज की समस्त विसंगतियो की जड यही हैं। कालिज स्पष्टतः दो धडों मे बँटा है। एक धड़ा प्रिंसिपल बनाम मैनेजर का है, दूसरा मास्टर खन्ना का। पढना, पढ़ाना, पढ़वाना, छात्र, अध्यापक एव मैनेजमेंट को शायद नही रुचता। यहाँ मोतीराम जैसे सफल अध्यापक हैं जो एक साथ कक्षा भी पढाते हैं और चक्की भी चलाते हैं। उनका मन कक्षा मे कम और चक्की में ज्यादा रमता है। एक दिन कक्षा में आपेक्षिक घनत्व पढ़ा रहे थे, आपेक्षिक घनत्व की शब्दावली जब स्पष्ट नहीं

होती तो हानि-लाभ की व्याख्या कर अपनी चक्की का उदाहरण देते हैं, इतने में उनके कानों में चक्की की धुकधुक पड़ती है। चक्की कई दिन से बिगड़ी पड़ी थी। वे कक्षा के घण्टे की, लड़कों के आपेक्षिक घनत्व न समझ आने की परवाह किये बगैर तुरन्त कक्षा छोड़ अपनी चक्की का हाल-चाल देखने चले जाते हैं। प्रिंसिपल साहब से उन्होंने गाँठ ही रखी है। उनकी कक्षा लेनी पड़ती है बराबर वाले श्री मालवीय को तथा साथ में प्रिंसिपल महोदय की डाँट भी सुननी पड़ती है। देखा जाय तो मास्टर मोतीराम की उपेक्षा भी जायज ही है, उन्हें ही कौन कालिज से पूरी तनख्वाह मिलती है। दस्तखत कुछ होते हैं नकद कुछ मिलते हैं। अध्यापक अपने लग्गू-भग्गू ही तो यहाँ नियुक्त होते हैं। सरकारी विभाग से फर्जी हुतियों के बल पर ज्यादा-से-ज्यादा पैसा खींचा जाता है। सच्चाई तो यह है कि कालिज के पास अपना कोई भवन भी नहीं है। दो कमरे सामुदायिक मिलन-केन्द्र के हथिया लिए हैं, श्रमदान से बनी कच्ची-पक्की दीवारों पर छप्पर छाकर बने दो-तीन अस्तबल से और हैं, बाकी तीन-चार एकड़ का ऊसर है जिसका कुछ हिस्सा तोड़कर चरी बोई जाती है ताकि प्रिंसिपल की भैंस भी चरती रहे और कृषि-विज्ञान की पढ़ाई भी चलती रहे। इन्हीं सब स्थितियों पर व्यंग्य है, "यहाँ से इण्टरमीडियेट पास करने वाले लड़के सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शान्ति निकेतन से भी आगे हैं; हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं; हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल का पानी क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं, सैनिटरी फिटिंग्स किस चिड़िया का नाम है।"[1] सुविधाओं से वंचित ये छात्र भी कम नहीं हैं, अध्यापक कक्षा में क्या पढ़ा रहा है इन्हें उससे कोई सरोकार नहीं, ये तो प्रायः शरारतें करने, गन्दी-गन्दी तस्वीरें देखने या शोहदागीरी में ही अपना समय काटते है। खुद मैनेजर वैद्यजी का लड़का रुप्पन टैन्थ क्लास में तीन साल तक फेल होता है यद्यपि गाँव की राजनीति, लुच्चई एवं बदमाशी में पूर्णतः माहिर है और देश की शिक्षा-पद्धति को बिल्कुल बेकार मानता है। गाँव के इन लड़कों के विषय में यह एक अनुभूत्यात्मक सच्चाई है कि "हर साल फेल होकर, दर्जे में सब तरह की डाँट-फटकार झेलकर और खेती की महिमा पर नेताओं के निर्झर पन्थी व्याख्यान सुनकर भी वे लड़के कुदाल की दुनिया में वापस जाने को तैयार न थे। वे कनखजूरे की तरह स्कूल से चिपके हुए थे और किसी भी कीमत पर उससे चिपके रहना चाहते थे।"[2] लेखकीय दृष्टि में कालिज का सम्पूर्ण चेहरा उजागर हुआ है। वह भली-भाँति जानता है कि किस तरह कालिज खुलते हैं, चलते हैं, लड़खड़ाते हैं, बन्द होते हैं। क्या छात्र, क्या अध्यापक, क्या कर्मचारी और क्या मैनेजमेंट सभी तो दोष के भागी हैं। कैसे भवन बनते हैं? कैसे अध्यापक नियुक्त होते हैं? कैसे उनके खिलाफ जाल रचे जाते हैं? कैसे उन्हें सेठजी की दुकान की तरह एक दिन में छुट्टी मिल जाती है इस सबका व्यंग्यात्मक लेखा-जोखा बड़े ही

---

१. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ० २४।
२ वही, पृ० ३२।

तटस्थ भाव से इस उपन्यास में प्राप्त होता है। सेंगर दोनों सद्-असद् पक्षों को सुनता है और वाणी देता है। कालिज में खन्ना जैसे भी मास्टर हैं जो प्रिंसिपल की जान-लेवा चेतावनियों को भी अनसुनी करते हैं और बेचारे त्रिपाठी जैसे भी अध्यापक हैं जो अपनी इज्जत-आबरू बचाकर इस शैक्षणिक अखाड़े से हारे हुए पहलवान की भाँति दुम दबाकर भाग लेते हैं। गाँव और हमारे देश दोनों का ही दुर्भाग्य है कि गन्दे किस्म की दलबन्दी हमारे विद्यालयों में दिनों-दिन फैल रही है।

स्वतन्त्रता के बाद गाँवों में भ्रष्ट राजनीतिकरण ने वहाँ के जीवन में विषम और क्रूर स्थितियों को ही जन्म दिया है। सत्ता के आसपास लोगों ने अपने मजबूत किले बना लिये हैं ताकि जनतन्त्र में भी उनका कोई बाल-बाँका न हो। इसके प्रतीक हैं वैद्य जी जो गाँव की पूरी राजनीति पर अपने चेले-चाटों के साथ छाये हुए हैं। गबन होता है तो उसे भी छिपा जाते हैं और कालिज की इन्चार्जी होती है उसे भी रोक लेते हैं। खन्ना और मालवीय जैसे जुझारू एवं नयी चेतना के अध्यापकों को भी बल प्रयोग के सामने शिवपाल गंज कालिज छोड़ना पड़ता है। गाँव की पंचायत में भी अपने ही चेले शनीचर को मुखिया बनवाते हैं। सत्ता के हथियाने में मारपीट भी उनका एक हथियार है। गाँव के विकास का कोई भी कार्य हो वह भ्रष्टाचार का रग-रग ही बन जाता है। उदाहरणार्थ वन-महोत्सव को ही लीजिये। वह कई स्तरों पर कई लोगों का महोत्सव बन जाता है जिसमें नेता (गाँव और शहर के) और सरकारी अफसर सभी शामिल होते हैं। शनीचर सरकारी पैसे को हड़पने के लिए कालिका प्रसाद को अपना साथी बनाता है जिसका पेशा सरकारी ग्रान्ट और कर्ज खाना था। वे सरकारी पैसे के द्वारा सरकारी पैसे के लिये जीते थे। इस पेशे में उनके तीन सहायक थे—क्षेत्रीय एम० एल० ए०, खद्दर की पोशाक और रटे हुए कुछ वाक्य। सहकारी फार्म हो, या मुर्गी-पालन, वन-महोत्सव हो या सामुदायिक मिलन केन्द्र, युवक-मंगल-दल हो या कालिज, चमड़ा कमाने सम्बन्धी ग्रांट हो या खाद के गड्ढे पक्के कराने की योजनाएँ अथवा अन्य तकावियाँ सभी में शिवपाल गंज की चौकड़ी पहले हाथ मारती है। तमंचे के बल पर प्राप्त हुई पिता की मैनेजरी के संदर्भ में रुप्पन का अपने बुआ के लड़के रंगनाथ को कहे गये ये वाक्य गाँव की राजनीतिक जिन्दगी की एक जीवन्त सच्चाई है, "देखो दादा, यह तो पॉलिटिक्स है। इसमें बड़ा-बड़ा कमीनापन चलता है। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। पिताजी जिस रास्ते में हैं उसमें इससे भी आगे कुछ करना पड़ता है। दुश्मन को जैसे भी हो, चित करना चाहिए। यह न चित कर पाएँगे तो खुद चित हो जाएँगे और फिर बैठे चूरन की पुड़िया बाँधा करेंगे और कोई टका को भी न पूछेगा।"[1] आजादी के बाद हमारा जीवन-दर्शन ही बदलता हुआ दृष्टिगत होता है—सदर्भ और मान्यताओं के अर्थ बदल रहे हैं—"नैतिकता" चौकी है। एक कोने में पड़ी है। सभा-सोसाइटी के वक्त इस पर चादर बिछा दी जाती है। तब बढ़िया दीखती है। इस पर चढ़कर लेक्चर फटकार

---

१. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ० १६०।

दिया जाता है। यह उसी के लिए है।''[1] लेखक व्यंग्य-स्थितियों के उरेहने में पूरा माहिर है। आज के वर्तमान राजनीतिक एवं भौतिक जीवन में भी हमारी सांस्कृतिक मान्यताएं किस प्रकार साथ चल रही हैं उसका व्यंग्यात्मक ब्यौरा देते हुए कहता है, "हम हवाई जहाज से यूरोप जाते हैं, पर यात्रा का प्रोग्राम ज्योतिषी से बनवाते हैं, फारेन एक्सचेंज और इनकमटैक्स की दिक्कतें दूर करने के लिए बाबाओं का आशीर्वाद लेते हैं, स्कॉच ह्विस्की पीकर भगन्दर पालते हैं और इलाज के लिए योगाश्रमों में जाकर साँस फुलाते हैं, पेट सिकोड़ते हैं। उसी तरह विलायती तालीम में पाया हुआ जनतन्त्र स्वीकार करते हैं और उसको चलाने के लिए अपनी परम्परागत गुटबन्दी का सहारा लेते हैं।'''अब हम गुटबन्दी को तू-तू, मैं-मैं, लात-जूता साहित्य और कला आदि सभी पद्धतियों से आगे बढ़ा रहे हैं। यह हमारी सांस्कृतिक आस्था है। यह वेदान्त को जन्म देने वाले देश की उपलब्धि है। यहाँ, संक्षेप में, गुटबन्दी का दर्शन, इतिहास और भूगोल है।'[2] लेखक एक साथ कई-कई बातों की ऐसी पर्तें जमा देता है कि कहीं संश्लिष्टता गहन हो उठती है तो कहीं सपाट-बयानी प्रमुख।

लेखक की समसामयिकता एवं तत्सम्बन्धी गहरी पहचान हमें विविध सन्दर्भों में प्राप्त होती है। सम्पूर्ण उपन्यास में व्यवस्था के प्रत्येक जोड़ और प्रत्येक अंग पर व्यंग्य है। गाँव के नेता हों या बाहर के, पुलिस के बाह्याडम्बर हों या अफसरों के कुचक्र, ट्रक वालों की मक्कारी हो या आम आदमी की निरीहता, छिछली राजनीति हो या गुण्डागर्दी, थाने हों या कालिज, विधानसभा एवं संसद की बहसें हों या कहवा घरों में हो रही बुद्धिजीवियों की चर्चाएँ, भ्रष्टाचार हो या मिलावट, गाँव के उत्सव-त्यौहार हों या चुनाव लेखक ने सभी पर जमकर फब्तियाँ कसी हैं। तात्कालिक युग परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में उसका कथन शत-प्रतिशत ठीक है, "हमारा देश भुनभुनाने वालों का देश है। दफ्तरों और दुकानों में, कल-कारखानों में, पार्कों और होटलों में, अखबारों में, कहानियों और अकहानियों में, चारों तरफ लोग भुनभुना रहे हैं। यही हमारी युग-चेतना है और इसे वह अच्छी तरह से जानता था। यहाँ गाँव में भी, उसने यही भुनभुनाहट सुनी थी। किसान अमला अहलकारों के खिलाफ भुनभुनाते थे, अहलकार अपने को जनता से अलग करके पहले जनता के खिलाफ भुनभुनाते और फिर दूसरी साँस में अपने को सरकार से अलग करके सरकार के खिलाफ भुनभुनाते थे। लगभग सभी किसी-न-किसी तकलीफ में थे और कोई भी तकलीफ की जड़ में नहीं जाता था। तकलीफ का जो भी तात्कालिक कारण हाथ लगे, उसे पकड़कर भुनभुनाना शुरू कर देता था।''[3] आज की यही वास्तविकता है। कारण और प्रभाव की ओर किसी की दृष्टि ही नहीं जाती।

शिवपालगंज गाँव की जिन्दगी में आये विभिन्न बदलाव के स्वरों को जमींदारी-

---

१. श्रीलाल शुक्ल - राग दरबारी, पृ० १२६।

२. वही, पृ० १०१।

३. वही, पृ० २१४।

उन्मूलन ने भी वैचारिकता के नए सन्दर्भ दिये हैं। इसने नयी मानसिकता ही नहीं प्रदान की है अपितु भय के गहन अन्धकार को तोड़ नई रोशनी प्रदान की है। लेखक ने इस रोशनी का भी अकन व्यंग्यात्मकता से ही किया है। "एक जमाना था कि किसी भी बामन-ठाकुर के निकलने पर यहाँ के लोग अपने दरवाजों पर उठकर खड़े हो जाते थे, हुक्कों को जल्दी से जमीन पर रख दिया जाता था, चिलमें फेंक दी जाती थीं, मर्द हाथ जोड़कर 'पायँ लागी महराज' का नारा लगाने लगते थे, औरतें बच्चों को गली से हाथ पकड़कर खींच लेती थीं और कभी-कभी घबराहट में उनकी पीठ पर घूँसे भी बरसाने लगती थीं। और महराज चारों ओर आशीर्वाद लुटाते हुए और इस बात की पड़ताल करते हुए कि पिछले चार महीनों में किसकी लड़की पहले के मुकाबले जवान दिखने लगी, और कौन लड़की ससुराल से वापस आ गयी, त्रेता युग की तरह वातावरण पर सवारी गाँठते हुए निकल जाते थे।"[1] वैचारिकता का बदलाव ही तो इसका कारण है कि अब बामनों के निकलने पर पहले जैसा 'गार्ड आफ आनर' नहीं दिया जाता, भले ही चमारों की आर्थिक समृद्धि अभी बाकी है। और तो और लोगों में इतना साहस भी आ गया है कि लोग चमरहों से गुजरने वालों पर से फबतियाँ तक कसते हैं और बीते हुए दिनों की याद दिलाकर उनसे एक टूटन का अहसास कराते हैं। चुनाव के बाद एक बार जब रुप्पन उस पट्टी से गुजरता है तो उस तक को यह झेलना पड़ता है। गाँव के नेता और दूसरे रूप में सर्वगर्वी वैद्य जी ने तो अब उस रास्ते से गुजरना ही छोड़ दिया ताकि बीते समय को याद से व्यर्थ दुखी न हुआ जाये।

'राग दरबारी' में अंध-विश्वासों रूढ़ियों, चुनावी तिकड़मों, सम्पादकीय सौदाबाजियों, बुद्धिजीवियों के तर्कों-वितर्कों, साहित्यकारों की बोल-बाजियों, शोधार्थियों एवं आचार्यों की साठ-गाठों तथा व्यापारी एवं सरकारी अधिकारियों की मिली-भगत आदि सभी का बड़ा ब्योरेवार एवं बेलाग चित्रण किया है। शहर से स्वास्थ्य सुधारने आने वाला रंगनाथ स्कॉलर वहाँ के दैनिक जीवन के दावपेचों के चक्कर में मानसिक रूप से उलझ जाता है। खन्ना और मालवीय से जिस रात जबर्दस्ती कालिज से इस्तीफा लिखा लिया जाता है तो वह अन्दर ही अन्दर कसमसा उठता है और टूट जाता है। वह शिवपाल गंज के चारों ओर फैली कीचड़ से दूर भागना चाहता है। वह अन्दर ही अन्दर सोचता है, "उस दुनिया में रहो जिसमें बहुत से बुद्धिजीवी आँख मूँदकर पड़े हैं। होटलों और क्लबों में। शराबखानों और कहवाघरों में।··· पहाड़ी आरामगाहों में, जहाँ कभी न खत्म होने वाले सेमिनार चल रहे हैं। विदेशी मदद से बने हुए नये-नये शोध-संस्थानों में, जिनमें भारतीय प्रतिभा का निर्माण हो रहा है। चुरुट के धुएँ, चमकीली जैकेट वाली किताब और गलत, किन्तु अनिवार्य अंग्रेजी की धुंध वाले विश्वविद्यालयों में। वहीं कहीं जाकर जम जाओ और फिर वहीं

---

१. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ० ३३५।

जमे रहो।''[1] रंगनाथ का यह सोचना गाँव की वास्तविकताओं का दर्द तो है ही, साथ ही आज की स्थितियों पर गहरा व्यंग्य भी है।

'राग दरबारी' अपने नवीन कथा-विन्यास मे वस्तुतः एक ऐतिहासिक प्रयोग है। सम्पूर्ण कृति में व्यंग्य ही व्यग्य हैं, व्यग्यों के इस अद्भुत प्रयोग को देखकर कुछ लोग इसे व्यंग्य-रचना तक कहते हैं। इसका व्यंग्य-विधान वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से मूल्यवान है। व्यंग्य-विधान दो तरह से होता है—एक तो वह विसगति-मयी स्थितियों से पैदा होता है, दूसरा वह भाषायी वचन-वक्रता से उत्पन्न होता है। 'राग दरबारी' में इकहरे एवं दुहरे दोनों प्रकार के व्यंग्य आये हैं जिनसे शिवपाल गज की बहुआयामी विसंगतियो का उद्‌घाटन हुआ है। कही-कही तो लेखक व्यग्य-स्थितियो में इतना रम गया है कि उसे औरतो के पाखाना करने की स्थिति पर भी व्यग्य करना अच्छा लगता है जो कि किसी अनिवार्यता की उपज नही है और लगता है कि मात्र व्यंग्य, व्यंग्य के लिए किया गया है। भारतीय गाँवो की सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक जिन्दगी के विविध परिदृश्य इन व्यंग्यों से बड़े ही जीवन्त बन पड़े हैं। गाँव के मेले के अवसर पर हलवाइयों की मिलावट और घटिया वस्तुओं का बेचना, पुलिस वालों का भ्रष्टाचारी कार्यक्रम, युवकों द्वारा गुण्डई, माल खाकर पैसे न देना, चिलविलापन करना, शक्ति प्रयोग करना, उल्टे-सीधे गाने गाना गाँव के एक मेले का बाह्य रूप तो प्रदर्शित करता ही है, साथ ही हमारी सांस्कृतिक टूटन की आन्तरिक चेतना को भी झकझोरता है। राग दरबारी का लेखक एक ही साथ कई-कई विसगतियों को गूँथता चलता है और इस प्रकार प्रसंग को आहत या खंडित किये बिना अवान्तर प्रसगों को सहज भाव से कथा मे जोड़ देता है। इस तरह लेखक अनेक कथाओ और प्रसंगों की अवतारणा किये बिना ही उसके प्रभाव को व्यंजित कर देता है। ये उपमायें इसीलिए सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रो से ली गई है। लेखक की यह शैली जहाँ उसके कथाविन्यास और अभिप्रेत प्रभाव-रचना मे अद्भुत योग देती है, वही कभी-कभी उसकी आरोपित व्यग्यात्मक प्रवृत्ति के कारण हल्की और अनावश्यक प्रतीत होती है।''[2]

'राग दरबारी' में शिवपाल गज की सांस्थानिक स्थिति अपनी आड़ी-तिरछी रेखाओं में उभर वहाँ के परिवेश की यथार्थवादी पहचान प्रस्तुत करती है। प्रकृति-वर्णन मे काव्यात्मकता, अलंकरण प्रवृत्ति या रोमानियत की भावना दृष्टिगत नहीं होती। शिवपाल गंज के "जंगल मे करौंदे, मकोय और बेर के झाड़ हैं और ऊँची-ऊँची जमीन है। खरगोश से लेकर भेड़िये तक, भुट्टा चोरों से लेकर डकैत तक इस जंगल मे आसानी से छिपे रहते हैं। नजदीक के गाँवों में जो प्रेम-सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर कायम होते हैं उनकी व्याख्या इस जगल मे शरीर के स्तर पर होती है।''[3]

---

१. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ० ४२३।
२. डॉ० रामदरश मिश्र : 'आजकल' मासिक अगस्त १९७२, पृ० ८।
३. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ० १४०।

पात्र-संयोजना में भी लेखकीय दृष्टि में व्यंग्य प्रधान रहा है। पात्रों की संख्या काफी है तथा वे जीवन की विविध राहों से लिये गये हैं। रंगनाथ शहरी युवा-मानसिकता का प्रतीक है जो पढ़-लिखकर अन्याय के आगे कदम-कदम पर चिन्तित और अपने-आपको असहाय-सा पाता है। ट्रक वाला भी तो दो रुपया उससे लेता है साथ में चुपचाप बैठने को ही नहीं कहता यह भी कहता है कि आप बार-बार फिसलने वाले गियर को पकड़ कर बैठें। बेचारा शहर से गांव स्वास्थ्य-लाभ के लिये आता है लेकिन लौटता है गांव की वास्तविकताओं के ज्ञान से एक ऊब लेकर। वह कहीं मेले में टूटता है। कहीं मामा के घर रुप्पन के सामने टूटता है तो कभी मास्टर खन्ना के विरोध में टूटता है। कहीं भी उसमें जमाने की नई सल्पी नहीं है। कुंठायें इतना घर कर गई है कि 'रिसर्च' को घास खोदना कहता है। रुप्पन गाँव का शोहदा है जो बाप से नेतागीरी सीखता है। बद्री पहलवान उसका बड़ा लड़का है जो एक दूसरे किस्म का भीतरी घाव है। क्या नेता, क्या पुलिस, क्या सैनिट्री इन्सपेक्टर, क्या शिक्षा-अधिकारी, क्या प्रिंसिपल, क्या अध्यापक, क्या अन्य सरकारी अफसर सभी के चेहरे धब्बों से पूर्ण है। सारे उपन्यास में एक भी ऐसा प्रबुद्ध पात्र दृष्टिगत नहीं होता जो कहीं इन सारी जीवन की विसंगतियों को प्रश्न-भरी निगाहों से देख पाता। ले-देकर एक लंगड़ है जो पात्रों में मूल्यचेतना से थोड़ा बंधा हुआ लगता है, लेकिन वह निहायत मूर्ख एवं तात्कालिक युग-बोध से बेखबर है और वह जुझारू न होकर काल्पनिक अधिक है। गयादीन, मालवीय, त्रिपाठी जी, या मास्टर खन्ना लगभग एक से पात्र हैं जो जूझ नहीं पाते, पलायन करते हैं। जोगनाथ लोफर, छोटे मुँहफट, शनीचर स्वार्थी नेता, दूरबीन सिंह डकैत, रामसरूप चोर और कुसहर प्रसाद-जैसे तिरछमी विभिन्न पात्र हैं जिनके चरित्र उनके काले कारनामों की बुराइयाँ लेकर स्वयं अपनी पहचान उभारते हैं। ये पात्र नहीं वास्तव में 'केरी केचर' हैं। सभी पात्रों में सारे उपन्यास में एक खेला ही दृष्टिगत होती है, जो अपने कृत्यों से गाँव की होकर भी गाँव की नहीं लगती।

श्रीलाल शुक्ल के इस उपन्यास की भाषा बड़ी पैनी और व्यंग्यात्मक है। पाठक लेखक के उबाऊ प्रसंगों, यथार्थ के सारहीन विवरणों को भी रोचकता के साथ उस प्रकार से पढ़ जाता है। शब्दों के अनन्त नवीन प्रयोग किए हैं, उनमें अर्थ की सांकेतिकता एवं मार्मिकता दोनों गुँथी हैं। शब्दों को विभिन्न प्रसंगों में नवीन अर्थ-वत्ता मिलती है। शाम के धुंधलके में दौड़ते हुए ट्रक के ड्राइवर का बाह्य परिवेश-दर्शन जिसका लेखक वर्णन करता है, भाषा रवानगी का और अतियथार्थवादी मसीहाई दृष्टि का द्योतक है। प्रसंग इस प्रकार है, "थोड़ी देर में ही धुंधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियाँ-सी रखी हुई नजर आईं। ये औरतें थीं जो कतार बाँध-कर बैठी हुई थीं। वे इत्मीनान से बातचीत करते हुए वायु-सेवन कर रही थीं और लगे हाथ मलमूत्र का विसर्जन भी। सड़क के नीचे घूरे पटे पड़े थे और उनकी बदबू के बोझ से शाम की हवा किसी गर्भवती की तरह अलसाई हुई चल रही थी। कुछ

दूरी पर कुत्तों के भूँकने की आवाजें हुईं। आँखों के आगे धुएँ के जाले उड़ते हुए नजर आये। इससे इनकार नहीं हो सकता था कि वे किसी गाँव के पास आ गये थे। यही शिवपाल गंज था ''[1] गाँव की शाम की यह एक सच्चाई तो है, लेकिन इस सच्चाई का जो विवरण प्रस्तुत हुआ है उसकी कोई खास मूल्यवत्ता दृष्टिगत नही होती। गठरियाँ-सी पड़ी कतार बाँधे स्त्रियाँ, हवा की दुर्गन्ध से गर्भवती स्त्री की भाँति अलसाना, धुएँ के जालो का उड़ना भाषागत नव्य प्रयोग तो है ही, शिवपाल गंज का बाहरी परिवेश भी इस संश्लिष्ट चित्र मे परिव्याप्त है। लेखक की भाषा यथार्थ के प्रत्यकन मे पूर्णरूपेण सक्षम है। अति यथार्थवादी दृष्टि और नव्य प्रयोग के अभिलाषी लेखक ने यत्र-तत्र 'अडा नही देंगे तो क्या बाल उखाडेंगे?' जैसे विविध प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगो मे कुछ पाठकों को असभ्यता, अश्लीलता का भान स्वाभाविक है। गाँव के गयादीन की लडकी बेला का रूप्पन को लिखा प्रेमपत्र तो फिल्मी धुनो का चिट्ठा ही बन गया है जिसमे लगभग एक कोडी गीतो की धुनें हैं। उदाहरणार्थ उस पत्र का अंश इस प्रकार है, ''अब तो मेरी यह हालत हो गई है कि सहा भी न जाये, रहा भी न जाये। देखो न मेरा दिल मचल गया, तुम्हें देखा और बदल गया। और तुम हो कि कभी उड जाये, कभी मुड जाये, भेद जिया का खोले ना। मुझको तुमसे यही शिकायत है कि तुमको प्यार छिपाने की बुरी आदत है। कही दीप जले कही दिल, जरा देख तो आकर परवाने।''[2] उपन्यास की सारी अरोमानियत को लेखक बेला के ही माध्यम से ही पूरी करना चाहता है। गाँव की अनपढ बेला को इतनी धुनें याद रह जायेंगी इसमे शक-शुबह की काफी गुंजाइश है। शिवपाल गंज के समूचे यथार्थ की कुछेक न्यूनताओ के साथ लेखक ने अपने समर्थ भाषिक रचाव मे अभिव्यक्ति दी है जिसमे व्यंग्य की अनन्त भंगिमायें हैं।

'राग दरबारी' उपन्यास की औपन्यासिक संरचना मे बिम्बो, प्रतीको और रंगों का रचाव भी थोडा अलग ही दिखलाई पडता है। इसमे वह 'मैला आँचल' जैसा संश्लिष्ट रचाव नही है। शिवपाल गंज एक विशिष्ट गाँव के रूप में न उभरकर एक प्रतिनिधि गाँव के रूप में आया है जिसके माध्यम से भारत के गाँवों का यथार्थ अंकित करना लेखक का लक्ष्य रहा है। सपाट-बयानी और व्यंग्य लेखक के दो पैने हथियार हैं जिन्हें प्राय: वह प्रयोग करता है। किसी यात्रा का इतिवृत्त हो या मेले का वर्णन, चुनाव की विसंगतियाँ हों या भ्रष्टाचारी तस्वीरें, प्रेम की दास्तान हों या स्त्री-पुरुषों के निबटने का दृश्य लेखक उनके यथातथ्य शब्द-चित्र अंकित करता है जिसमें उसकी कौशल वृत्ति इस बात मे है कि रोजमर्रा की जिन्दगी मे घटने वाली इन ढेर सारी बातो को बिना किसी ऊब के पाठक उलझे-सुलझे सूत्रो के बावजूद अपनी कथा-यात्रा पूरी कर लेता है, जबकि 'आधा गाँव' उपन्यास मे पाठक हताश मन कई बार छोड बैठता है। यथार्थ की नयी-नयी भंगिमाओ का अन्वेषी लेखक अपनी

१. श्रीलाल शुक्ल: राग दरबारी, पृ० १६।

२. वही, पृ० २७२।

इस आदत से हास्यात्मक स्थितियों को जो शालीन बन सकती थी फूहड़ बना बैठता है और पता नही लेखकीय रुझान टट्टी, पाखाना, पेशाब, फोड़ा, खून, मवाद आदि की विभिन्न वीभत्स स्थितियो के अकन मे बार-बार क्यों रमता है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गांव की अनेकमुखी विसंगतियां, लोक-जीवन के नये-नये उपमानों के माध्यम से उभर कर अच्छी-बुरी छवियां बनाती हैं। उदाहरणार्थ 'वर्तमान शिक्षा-पद्धति रास्ते मे पडी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है', 'लडके वन-खजूरे की तरह स्कूल से चिपके हुए थे' या 'दरख्वास्त बेचारी तो चीटी की जान जैसी है, उसे लेने के लिए कोई बड़ी ताकत नही चाहिये।' लोक-जीवन के मुहावरे एवं लोकोक्तियो का रचनात्मक उपयोग हुआ है। एकाध स्थल पर फिल्मी गीतों की रमक सुनाई पड़ती है तो कही-कही दो-चार पक्तियां लोक-गीतों के स्वर भी वातावरण मे उँडेलती हैं।

'राग दरबारी' का कलात्मक प्रदेय उसके व्यंग्य ही हैं जो तात्कालिक यथार्थ की धरती से उपजे हैं, लेकिन यह बात सोलह आने ठीक है, "कि 'राग दरबारी' *सामयिक यथार्थ तक अपने को प्रतिबद्ध रखने के कारण तथा इस यथार्थ के नीचे* तडपती अन्तर्निहित मानवीय व्यथा, मूल्य-चेतना और टूटने और न बनने के तीखे द्वन्द्व से असम्बद्ध होने के कारण आने वाले कल के लिए हमे विश्वस्त नही करता और आज भी हमारी मानवीय-चेतना को बहुत गहराई तक नही छूता।"[1]

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र . 'सचेतना' (त्रैमासिक) दिसंबर १९७१, पृ० ३६।

अलग अलग वैतरणी :
शिवप्रसाद सिंह

'मैला आंचल', 'परती : परिकथा', 'पानी के प्राचीर' जैसे आंचलिक उपन्यासों के क्रम में लिखा गया उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' शिवप्रसाद सिंह का पहला और समर्थ उपन्यास है। इसमें करैता (उत्तर प्रदेश का एक गाँव) के माध्यम से स्वतंत्रता परवर्ती ग्राम-जीवन की अनेक समस्याओं, आपदाओं, प्रश्नों और संभावनाओं को एक यथार्थवादी दृष्टि से अंकित किया गया है। लेखकीय दृष्टि यथार्थ के प्रति बड़ी बेलाग रही है और उसमें गाँव का एक-एक घर, एक-एक गली, एक-एक आँगन अपने पूरे हुलिया के साथ प्रस्तुत हुआ है। क्या आन्तरिक और क्या बाह्य सभी लुकी-छिपी सच्चाइयाँ कथानक के छोटे-बड़े रेशे हैं जो उसकी बुनावट के उपादान हैं। एक विशिष्ट गाँव करैता को उसकी समग्रता में आंकने के बावजूद (जो कि आंचलिक उपन्यास का एक लक्षण है) लेखक के मन में द्विधा-सी दृष्टिगत होती है और उसका प्रकटीकरण 'तट चर्चा' (भूमिका) के इन शब्दों में है, "मैं चाहे लाख चाहूँ, पढ़ने वाले इसे यदि आंचलिक उपन्यासों की पंक्ति में डाल दें, तो मैं कर ही क्या सकता हूँ।"[1] लगता है लेखक को 'आंचलिक' विधागत परिगणन इस भारी-भरकम उपन्यास के लिए हल्का प्रतीत होता है जबकि इसकी संवेदना और शिल्प दोनों ही इसे आंचलिक उपन्यास की कतार में खड़ा करते हैं।

'अलग अलग वैतरणी' की कथायात्रा का प्रारम्भ करैता के देवी धाम पर जुटने वाले सालाना राम नवमी के मेले से होता है। लोक-जीवन की विविध छवियों को तो लेखक ने फोटो ग्रैफिक-शैली में प्रस्तुत किया ही है, साथ ही उन अनेक मूल्य-चेतना-सम्बन्धी बिन्दुओं की पहचान भी इसी मेले से प्रारम्भ की है। ग्राम-जीवन में आए सामाजिक बदलाव, परिवर्तित सांस्कृतिक प्रतिमान मेले के बहुआयामी चित्रण से स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। मेले में हेल-मेल, हर्ष-आनन्द के स्थान पर गुंडई होती है। और तो और गुंडई ही मानो मेलों की नियति बन गई है। करैता में भी यही होने लगा है। "औरतों से छेड़खानी हर मेले में होती है। पर करैता की किसी शोख लड़की से छेड़खानी करने के कारण मारपीट और खून-खराबा इस मेले का सालाना

---

1. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी : तट चर्चा।

इस आदत से हास्यात्मक स्थितियों को जो शालीन बन सकती थीं फूहड़ बना बैठता है और पता नहीं लेखकीय ध्यान टट्टी, पाखाना, पेशाब, फोड़ा, खून, मवाद आदि की विभिन्न वीभत्स स्थितियों के अंकन में बार-बार क्यों रमता है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गाँव की अनेकमुखी विसंगतियां, लोक-जीवन के नये-नये उपमानों के माध्यम से उभर कर अच्छी-बुरी छवियां बनाती हैं। उदाहरणार्थ 'वर्तमान शिक्षा-पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है', 'लड़के बन-राजूरे की तरह स्कूल से चिपके हुए थे' या 'दरख्वास्त बेचारी तो चींटी की जान जैसी है, उसे लेने के लिए कोई बड़ी ताक़त नहीं चाहिये।' लोक-जीवन के मुहावरे एवं लोकोक्तियों का रचनात्मक उपयोग हुआ है। एकाध स्थल पर फिल्मी गीतों की रमक सुनाई पड़ती है तो कहीं-कहीं दो-चार पंक्तियां लोक-गीतों के स्वर भी वातावरण में उँडेलती हैं।

'राग दरबारी' का कलात्मक प्रदेय उसके व्यंग्य ही हैं जो तात्कालिक यथार्थ की धरती से उपजे हैं, लेकिन यह बात सोलह आने ठीक है, "कि 'राग दरबारी' सामयिक यथार्थ तक अपने को प्रतिबद्ध रखने के कारण तथा इस यथार्थ के नीचे तड़पती अन्तर्निहित मानवीय व्यथा, मूल्य-चेतना और टूटने और न बनने के तीखे द्वन्द्व से असम्बद्ध होने के कारण आने वाले कल के लिए हमें विश्वस्त नहीं करता और आज भी हमारी मानवीय-चेतना को बहुत गहराई तक नहीं छूता।"[1]

●

१. डॉ० रामदरश मिश्र : 'सचेतना' (त्रैमासिक) दिसंबर १९७१, पृ० ३६।

अलग अलग वैतरणी : शिवप्रसाद सिंह

'मैला आंचल', 'परती : परिकथा', 'पानी के प्राचीर' जैसे आंचलिक उपन्यासों के क्रम मे लिखा गया उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' शिवप्रसाद सिंह का पहला और समर्थ उपन्यास है। इसमे करैता (उत्तर प्रदेश का एक गांव) के माध्यम से स्वतंत्रता परवर्ती ग्राम-जीवन की अनेक समस्याओं, आपदाओं, प्रश्नों और संभावनाओ को एक यथार्थवादी दृष्टि से अंकित किया गया है। लेखकीय दृष्टि यथार्थ के प्रति बड़ी बेलाग रही है और उसमें गांव का एक-एक घर, एक-एक गली, एक-एक आंगन अपने पूरे हुलिया के साथ प्रस्तुत हुआ है। क्या आन्तरिक और क्या बाह्य सभी लुकी-छिपी सच्चाइयां कथानक के छोटे-बड़े रेशे हैं जो उसकी बुनावट के उपादान हैं। एक विशिष्ट गांव करैता को उसकी समग्रता में आंकने के बावजूद (जो कि आंचलिक उपन्यास का एक लक्षण है) लेखक के मन मे द्विधा-सी दृष्टिगत होती है और उसका प्रकटीकरण 'तट चर्चा' (भूमिका) के इन शब्दों मे है, "मैं चाहे लाख चाहूं, पढ़ने वाले इसे यदि आंचलिक उपन्यासो की पंक्ति मे डाल दें, तो मैं कर ही क्या सकता हूं।"[1] लगता है लेखक को 'आंचलिक' विधागत परिगणन इस भारी-भरकम उपन्यास के लिए हल्का प्रतीत होता है जबकि इसकी संवेदना और शिल्प दोनो ही इसे आंचलिक उपन्यास की कतार मे खड़ा करते हैं।

'अलग अलग वैतरणी' की कथायात्रा का प्रारम्भ करैता के देवी धाम पर जुटने वाले सालाना राम नवमी के मेले से होता है। लोक-जीवन की विविध छवियों को तो लेखक ने फोटो ग्रैफिक-शैली मे प्रस्तुत किया ही है, साथ ही उन अनेक मूल्य-चेतना-सम्बन्धी बिन्दुओं की पहचान भी इसी मेले से प्रारम्भ की है। ग्राम-जीवन में आए सामाजिक बदलाव, परिवर्तित सांस्कृतिक प्रतिमान मेले के बहुआयामी चित्रण से स्पष्ट परिलक्षित होते है। मेले मे हेल-मेल, हर्ष-आनन्द के स्थान पर गुंडई होती है। और तो और गुंडई ही मानो मेलो की नियति बन गई है। करैता मे भी यही होने लगा है। "औरतों से छेड़खानी हर मेले मे होती है। पर करैता की किसी शोख लड़की से छेड़खानी करने के कारण मारपीट और खून-खराबा इस मेले का सालाना

---

1. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी : तट चर्चा।

रिवाज था।"[1] जगन मिसिर हरिया और सिरिया की गुडई की हरकतों से बडे दुखी होते हैं। इन्दलसिंह को जैपाल काका का समय याद आता है जब करैता मेले में करैता के लोग कभी गुडई नही करते थे। जगन मिसिर से वह कहते हैं, "जैपाल काका के वखत में याद है न आपको एक वाक्या हो गया था तो ऊ देम दिहात हाथ जोड़ते फिरे थे। ऊ शराफत थी मिसिर जी कि गाँव के किसी बहेतू ने गलती कर दी तो मालिक माफ़ी माँगता था देहात-भर से। किस-किस मुश्किल से करैता के पुरनियाँ लोगों ने यह मेला जमाया और सँवारा। उसी मेले मे अब आप ही के गाँव के लोग आवारागर्दी करते हैं।"[2] इन सब अशोभनीय घटनाओं के बावजूद भी ग्रामीण मानसिकता का मेलो के प्रति कितना गहरा रुझान है वह हम मेले के ठेलमपेल वर्णनों में पाते हैं। लेखक ने मेले की समग्रता के प्रकन मे आलकारिकता एव बिम्बात्मकता दोनों का यथेष्ट प्रयोग किया है। वस्तुतः समस्त कथानक के बीज इस मेले की विविध घटनाओं में बिखरे हुए है। स्वाधीनता के बाद ग्रामीण-शासन-तंत्र मे निश्चय ही बदलाव आया है। जमींदारी-उन्मूलन, पचायती राज, शैक्षणिक-चेतना आदि विविध गत्यात्मक सदर्भ है जिन्होने ग्राम-चेतना को परिवर्तित किया है।

जमींदारी-उन्मूलन ने करैता गाँव की सामाजिक जिन्दगी को नई हवा और रोशनी प्रदान की है। वहां नये सम्बन्ध-सूत्र जन्मे हैं और नये रिश्तो की नयी बिरादरी उगी है। देखते-देखते करैता का पूरा माहौल बदल जाता है। आसामी लोग खानदानी लाज-शरम छोड़ जमीदार की छावनी से अपना रिश्ता तोड़ लेते है। न अब तीज-त्योहारो पर आसामियो की भीड ही जुहार करती है और न कभी छावनी के द्वार पर रखा बड़ा सा परात नजराने के रुपयो से खनकता है। छावनी के लोगो के सामने झुकने वाली आँखो ने अपने तेवर बदल लिए हैं, माथे झुकाकर चलने वाले लोग अब जमीदारो के सामने सिर उठाकर चलने लगे हैं। 'अलग अलग वैतरणी' के जमीदार जैपालसिंह को यह नयी हवा बर्दाश्त नही होती और वे करैता छोड़कर ही चले जाते हैं।

खेतिहर मजदूरो मे अपने पारिश्रमिक के प्रति जागरूकता आई है। गाँव के हलवाहे शहरों के प्रभाव से हडताल का अर्थ भी जान गए है। जगजीत सिंह का हलवाहा झिनकू मार भले ही सह लेता है लेकिन काम पर जाने के लिए दो टूक उत्तर देता है, "मार के जान ले लो। लेकिन हम एक बार नही सौ बार कह रहे है। हम बिना रोजीना बन्नी के काम नही करेंगे। परती खेत लेकर ओम्मा अपनी कब्बर बनाएँगे ? हमारे छोटे-छोटे लडिका चार दिन से भूखे सोय रहे है। हमसे अइसा काम नही होगा !"[3] बेचारा पिटता है, रोता है और उसी दिन अपने लड़के को भी काम से हटा लेता है। क्योंकि अब वह बेगार करने के लिए कत्तई तैयार नही। करैता मे

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ३।
२. वही, पृ० २२।
३. वही, पृ० २४०।

ही घनेसरी एक और स्वाभिमानी बुढ़िया है जो जमीदारों के निर्दय व्यवहार के विरोध में टुकड़े-टुकड़े हो जाना पसंद करती है, सूअर-बकरी चराना पसंद करती है लेकिन इनकी चाकरी नहीं। जमीदारों के अत्याचारों एवं अनाचारों के ही कारण करैता में वर्ग-संघर्ष उभरता है। सरूप भगत की लड़की दुलरिया के साथ जब सीरीसिंघ छेड़छाड़ करता है तो सरूप भगत उसे नये मजदूर की वाणी में कहता है, "इज्जत तो सबकी एक ही है बाबू ? चाहे चमार की हो चाहे ठाकुर की। हम आपका काम करते हैं, मजूरी लेते हैं। हमे गरज है कि करते हैं। आपको गरज है कि कराते हो। इसका मतलब ई थोड़ा हो गया कि हम आपके गुलाम हो गये।"[1] इन शब्दों में नयी आक्रोशजन्य मानसिकता है।

'अलग अलग वैतरणी' में ऐसे अनेक परिदृश्य हैं जहाँ यह आक्रोश फूटता है। पीड़ित एवं दलित वर्ग में स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों ने अधिकारबोध को जगाया है और उसी का परिणाम है कि वे अब अधिक अत्याचार नहीं सह सकते। उनका धैर्य टूट रहा है। लेखकीय दृष्टिकोण यथासंभव पीड़ितों की हिमायत तो करता है लेकिन पूरे दिल से नहीं और इसी कारण कोई पूरा प्रभाव नहीं बन पाता।

शिवप्रसाद सिंह ने करैता में आई नई शासन-प्रणाली की इकाई पंचायत का जायजा बड़ा ही प्रामाणिक प्रस्तुत किया है। ग्राम पचायत आज की नयी व्यवस्था नहीं वह तो नई बोतल में पुरानी शराब की भाँति है। गाँव के पुराने जमीदार इस नयी व्यवस्था मे बड़े कौशल से फिर स्थापित होते हैं। 'अलग अलग वैतरणी' के जमीदार जैपाल जो करैता को छोड़कर चले गये थे गाँव के शासन को सँभालने फिर बुढ़ौती मे लौट आते हैं। पार्टी-बन्दी होती है। एक ओर सरजूसिंह की पार्टी (खानदानी दुश्मन) है तो दूसरी ओर जैपालसिंह की। जैपालसिंह चुनाव मे नई गोटी सेराते हैं और अपने को हरवाकर सुखदेव को जितवा देते हैं। सुखदेव तो नाम के प्रधान बने असली कर्ता-धर्ता बनते हैं ठाकुर जैपालसिंह। सुखदेव और जैपाल दोनों गाँव मे नयी-नयी अच्छी-बुरी तरकीबों से पैसा ऐंठने हैं—थाने की दलाली, ब्लैक मार्केट, तस्कर व्यापार आदि सभी कुछ तो करते हैं। जमीदार का बड़ा लड़का बुझारथ तो ट्रेन की डकैती मे पकड़ा ही जाता है। आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने वाला सुखदेव अपनी वैचारिकता मे भौतिकता के दबाव मे इतना दब जाता है कि आए दिन कोई-न-कोई षड्यन्त्र रचता है। गरीब चमारों के प्रति निर्दय होकर जब थानेदार को रुपया ऐंठने के लिए उकसाता है तो बड़ा ही घृणित लगता है। और तो और यह अपने इस भ्रष्टाचार को सही भी ठहराता है, "इसी टोपी का असर है कि थाना, पुलिस, नेता, अफसर सभी को समझा-बुझाकर काम करा लेता हूँ। वरना कहीं न तो स्कूल की इमारत पर छत पड़ती, न चमारों के लिए कुआँ बनता, न गाँव की गलियों मे नाबदान बनते। किस-किसका काम नहीं सलटाया।

---

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० २४१।

किसकी गवाही नही की। जब भी कचहरी-फौजदारी हुई पब्लिक के साथ खड़ा रहा। पर उसका कुछ नही। खरच-बरच के बीस-पचीस लिया, उसकी खोज सभी साले करते हैं।"[1] हद है इन छुटभइयों की कि शोषित वर्ग के होकर भी शोषण करते हैं।

टूटन 'अलग अलग वैतरणी' का मुख्य स्वर है। यह टूटन करैता गाँव के लोगो में, उनकी जीवन-दृष्टियों मे, उनके विभिन्न क्रियाकलापों मे विविध तरह से परिव्याप्त है जिसके कारण वहाँ का सारा जीवन ही टूटता हुआ दृष्टिगत होता है। ठाकुर जैपालसिंह जमींदारी-उन्मूलन से टूटते हैं, सरजूसिंह पचायती चुनाव की हार से टूटते हैं। जग्गन मिसिर भौजाई और गाँव के बदलते रग से टूटते हैं। कनिया भाभी बुझारथसिंह के अनैतिक व्यापारो से टूटती है, खलील मियाँ अपनी जमीन जगेसर के बाप द्वारा हथियाने से टूटते हैं, देवनाथ अपने पिता के व्यवहार से टूटता है तो शशिकान्त (मास्टर) गाँव की गुटबन्दी का शिकार बनकर टूटता है। विपिन इन सबके दुख-दर्दों एव ग्राम-जीवन की परिवर्तित मान्यताओ और टूटते आदर्शों के द्वन्द्व से टूटता है। देवनाथ, खलील मियाँ, शशिकान्त और बाद मे विपिन का करैता गाँव छोडकर जाना उनकी स्पष्ट पराजय का प्रतीक है। खलील मिया के जाते समय जग्गन मिसिर का यह कथन कि, "यह गाँव साला हरामियो से भर गया है।"[2] एक सच्ची वास्तविकता है। विपिन करैता मे प्रतिक्षण टूटता है। उसका आत्मोद्घाटन बिल्कुल ठीक है कि वह निर्णयभीरु, डरपोक और सुविधा पसद है। वह स्वीकारता है कि मन के भीतर अतल मे छिपे मिथ्या प्रतिष्ठा और खानदानी बडप्पन उसके भीतरी रोग है। बेचारा जानकर भी यथार्थ का दर्द झेलता है यही उसकी नियति है। विपिन के अन्दर चारो ओर अकेलापन है—घर, द्वार, छावनी, आँगन कोई भी उसे अपने साथीपन की अनुभूति नही देता।

सामाजिक मूल्यों के विघटन से करैता गाँव, गांव नही रह गया है। विपिन हो या उसकी दृष्टि के अन्य लोग सभी के सामने एक अनुत्तरित प्रश्न तैरता है कि "यहाँ कैसे रहे ? यह गाँव तो वह रहा नही। जिधर देखता हूँ अजीब कोहराम है। सभी परेशान हैं। सभी दुखी।"[3] जहालत, गरीबी और तगखयाली की पर्तों से सारा गाँव नरक बन गया है। यहा गुडे ही गुडई के खिलाफ जुलूस निकालते हैं। नेता हैं कि जनता को चूतिया बनाकर मजा काटते हैं। चोरी, जारी, चुगली यहाँ के दैनिक क्रिया-व्यापार हैं। युवकों से कुछ आशा बँध सकती थी उनका भी अजब हाल है। गली-गली उनकी रगस्थली बन गई है। इस नई पीढी के प्रति जग्गन मिसिर का दर्द लेखक का निजी दर्द-सा बनकर अभिव्यक्त हुआ है, "ई नही कि सेखर की तरह मुँह बनाये, बीड़ी सुडकते मजनूँ बने गली-गली घूम रहे हैं। दुअन्नी-चवन्नी लेकर 'इस्क' कर रहे हैं। ऐ साले टुकडहे क्या ऐयाशी करेंगे। किसी के बदन मे एक तोला

---

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ११८-११६।
२. वही, पृ० ५११।
३. वही, पृ० २६२।

खून नहीं, हाड़ पर छटांक-भर गोश्त नहीं। ये तो कुत्ते हैं, ससुरे, बिना कुछ सोचे-समझे इधर-उधर 'कुकरलेंढ' लगा देते हैं। ये तो कुछ समझते नहीं। न अपने को, न दूसरे को।"[१] दायित्वहीन, चरित्रहीन, कमजोर पीढ़ी उगते हुए भारत के गाँव की कमजोर रग है जिस पर लेखक ने सही उँगली रखी है। लेखकीय रचनाधर्मिता का यह एक अपरिहार्य पहलू है कि लेखक यथार्थ की उन तमाम विसंगतियों को कहीं व्यंग्य से, कहीं सीधे, कहीं बिम्ब से कहीं रंग में इस प्रकार प्रस्तुत करे कि एक तो रचनात्मक धर्म का निर्वाह हो दूसरे उसमें वर्तमान और आने वाला कल भी साफ दिखाई दे। लेखकीय दायित्व के निर्वाह में शिवप्रसाद सिंह को कटु सत्य भी यदि कहने पड़े हैं तो कहे हैं और कहीं भी उनमें कोई हिचकिचाहट नहीं दृष्टिगत होती।

शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास अपने भारी-भरकम स्वरूप में अनावश्यक प्रसंगों का विस्तार भी लिए हुए है। यह ठीक है कि गाँव में शैक्षणिक चेतना, सिनेमा एवं अन्य कारणों से यौन-संबधों में भी बदलाव आये हैं। लेकिन शहरी उपन्यासों की भाँति लेखकीय दृष्टि इन संबंधों के आँकने में खूब रमी है। 'अलग-अलग वैतरणी' में इन यौन-विकृतियों के शिकार हैं—पटनहिया भाभी, उसका पति कल्पू, मुंशी जवाहर लाल हैडमास्टर, शशिकान्त का शिष्य गोपाल और गोपाल का दोस्त शिव राम। हरिया, सिरिया और छविलवा करैता के नामी शरारतियों में हैं तो बुझारथ सिंह (जमीदार जैपालसिंह का लड़का) का काम-सन्तुलन बिगड़ा सा ही रहता है, जिसके कारण एक तो वह अनैतिकताओं का शिकार हो रहा है, दूसरा उसके इन कारनामों से उसकी पत्नी कनिया में कुंठा में उत्पन्न हो रही है। पटनहिया भाभी को अजब ही रोग हैं। पति की नपुंसकता उसको विकृत कर रही है और छोटे-छोटे लड़कों को नंगा कर देखने में ही वह संतुष्टि पाती है। पढ़ने के बहाने कभी मास्टर शशिकान्त की ओर आकृष्ट होती है तो कभी डाक्टर देवनाथ की ओर; और एक दिन तो मौका पा विपिन से भी छेड़खानी शुरू कर देती है, लेकिन पता नहीं किस सनक में यकायक पलंग से उठकर चली जाती है। इसकी भी यौन स्थिति विकृतावस्था में है। और बेचारा कल्पू तो आखिर साथ छोड़ ही गया। क्योंकि उसमें बुरी सोहबत से भयानक कमजोरी और नपुंसकता थी। अपनी पढ़ी-लिखी बीवी के कारण उत्पन्न हीनता-ग्रंथि और उसके कारण उत्पन्न दु:स्वप्नों के भीतर वह दीर्घकाल से निरंतर टूट रहा था। मास्टर शशिकांत ने गाँव के इन किशोर-किशोरियों के जीवन का काफी कुछ पता लगा लिया जो प्राय: अँधेरी चादर में छिपा होता है। उन्होंने अपने बजरडीहा के आदर्श बेसिक स्कूल के छात्र गोपाल का पीला चेहरा, आँखों में उभरे हुए कोटर, उनके चारों ओर फैली अँगुली बराबर मोटी स्याही, निश्चल और चमक-हीन आँखें देखी हैं। मिठाइयों, साबुन की खुशबू आदि के चक्कर में पड़कर गोपाल

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ४४४।

अपने बदमाश दोस्त शिवराम को अपने-आपको सौंप बैठा। शिवराम ने अपने विकृत अहं एवं दानवी भूख की तृप्ति गोपाल के शरीर से कर ली। और जब यह क्रम निरंतर चलता गया तो एक दिन आ गया जब कमर मे दर्द, आँखों के आगे चिंगारियाँ छूटने लगी। हैडमास्टर मुंशी जवाहर लाल का भी अजब हाल है। वह भी रात को पत्नी का अभाव स्कूल के शिष्य रमचेलया से भगाता है। पढाने के बदले फीस ही नही शरीर की फीस भी गाँव के निरीह बच्चो से ली जाती है। समलैंगिक मैथुन की एकाध घटना काफी थी। पता नही लेखक को करैता की इन वास्तविकताओ के उद्घाटन मे इतनी रुचि क्यों रही। लगता है शहरी उपन्यास 'मछली मरी हुई' आदि यौनपरक उपन्यासों का काफी गहरा प्रभाव उन पर है जिसे उन्होने गाँव मे खोजकर उद्घाटित किया है।

'अलग-अलग वैतरणी' मे करैता गाँव की नगरोन्मुखता एक समाजशास्त्रीय सच्चाई है। गाँव का निम्न वर्ग ही शहरो के प्रति आकृष्ट नही है अपितु गाँव की सारी पढ़ी-लिखी ऊर्जा उस ओर चली जा रही है। अपढ गरीब रोजी-रोटी के लिए जा रहे हैं, तो पढे-लिखे सामाजिक सुरक्षा एवं आत्म-सम्मान की रक्षा हेतु जा रहे है। करैता मे न विपिन रह पाता है न देवनाथ, न शशिकान्त रह पाता है न खलील, मियाँ। यहाँ रहने लायक कोई भी नही रह पाता। विपिन के गाँव छोडते समय जगन मिसिर का यह कहना बहुत हद तक उसकी आन्तरिक पीड़ा को ही अभिव्यक्त करता है, "हमारे गाँवो से आजकल इक तरफा रास्ता खुला है। निर्यात—सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है वह यहाँ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे ताजे जानवर, बैल, भेड़ें-बकरे जाते हैं। हट्टे-कट्टे मजबूत जिनके बदन मे ताकत है, देह मे बल है, खीच लिए जाते हैं पल्टन मे, पुलिस मे। मलेटरी मे मिल मे। फिर वैसे लोग, जिनके पास अक्ल है, पढे-लिखे हैं यहाँ कैसे रह जाएँगे? वे जाएँगे ही। जाना ही होगा।"[1] गाँव की यह भोगी हुई वास्तविकता है जिससे गाँव-देहात का हर आदमी वाकिफ है। गाँव मे तो मात्र वही रहता है जो कही और खप नही पाता। गाँवो के उद्धार की दृष्टि से यह स्थिति चिन्तनीय है। लेखक ने उचित परिप्रेक्ष्य मे यह प्रश्न उठाया है। गाँवो के टूटते स्वरूप को जैसे भी हो रोकना होगा, क्योकि सच्चा भारत तो गाँव की झोंपडियो में ही बसता है। अगर ये झोपड़ियाँ इस तरह वीरान होने लगी तो देश का क्या होगा?

शिवप्रसाद सिंह का कथा-संयोजन गाँव का समग्र रूप आँकने मे काफी हद तक सफल रहा है। एक केन्द्रीय कथा के चारो ओर दर्जनो किसान-परिवारो की उपकथायें इस कौशल से बुनी हैं कि कही गाठें नही पडी हैं। कथात्मक सयम या संतुलन एकाध स्थल पर स्खलित होता है अन्यथा गाँव के एक-एक अंग को उचित

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ६७४।

सन्दर्भों में पूरी साज-संवार के साथ प्रस्तुत किया है। इस साज-संवार में परिवेश सृष्टि का अपना महत्त्व है जिसे शिवप्रसाद सिंह ने खूब अच्छी तरह समझा है। परिवेश संरचना में प्रकृति के गाढ़े और फीके दोनों चित्र उन्होंने बनाये हैं, गाँव की भौगोलिक स्थितियाँ पतली-मोटी रेखाओं में अंकित की हैं तथा कहीं-कहीं ग्राम-जीवन की जटिलताओं के भी सश्लिष्ट चित्र अंकित किए हैं जिनमें गाँव जीवन्त हो उठता है। परिवेश अंकन में लेखकीय दृष्टि बड़ी पैनी है और उससे शायद ही कोई वस्तु छूटती हो, लेकिन इस पर्यवेक्षण में प्रकृति जीवन का अंग बनकर नहीं आती अपितु यथातथ्य वर्णन ही अधिक उभरते हैं। ग्रीष्म ऋतु के वैशाख महीने में करैता गाँव की क्या स्थिति हो जाती है उसी का एक मौसमी चित्र है, "अब तो पछुवा हवा की गति तेज हो गयी है। वैशाख के शुरू हफ्ते में ही भयंकर लू चलने लगी। जलती हुई खपरैलों की छाजनें, उमस से खौलती हुई गलियाँ, धूप में चिलचिलाते आँगन के बीच करैता किसी बूढ़े योगी की तरह धूनी रमाये ऊँघता रहता। आसपास की बावलियों, तलैयों और पोखरों का पानी सूख गया। कीचड़ तक गर्मी की मार से फट गयी है। अभी तक महीने पहले की चादर में हवा की गति पर लहरों की चुन्नट पड़ जाती थी, वहाँ आज सूखी कीचड़ की पीठ पर विभिन्न आकार-प्रकार की दरारें तस्वीरों का जाल बिछाए हुए हैं। इन दरारों से मेढक और मेंगचियों की मासूम प्यासभरी आँखें झाँका करती हैं। लारभरी जीभें निकालकर हाँफते कुत्ते इस सीत में आकर बैठते हैं। दरारों से उछल-उछल कर मेगचियों का झुण्ड डर के मारे गिरता-पड़ता दूर किनारे की ओर चला जाता।"[1] सघन डिटेल्स वाला यह स्थिति-चित्र गर्मी से जीव-जन्तुओं की परेशानियाँ एवं आपदाओं का गहरा रूप तो अवश्य उभारता है लेकिन न तो वह किसी पात्र की मनःस्थिति से जुड़ पाता है और न सामाजिक जीवन की विसंगतियों की तलखियाँ ही उत्पन्न करता है। प्रकृति केवल वर्णनात्मकता का साधन न बनकर अंचल विशेष के जीवन का अंग बनकर आती है। आंचलिक उपन्यासों में प्रकृति अन्य उपन्यासों की भाँति केवल एक परिवेश-निर्मिति या पृष्ठभूमि के रूप में नहीं आती अपितु वहाँ के जीवन की जटिलताओं, अन्तर्विरोधों एवं विसंगतियों के स्पष्ट उद्‌घाटनार्थ ही आती है। 'अलग-अलग वैतरणी' इस दिशा में कुछ पीछे रह गया है।

'अलग-अलग वैतरणी' की पात्रसृष्टि के अन्तर्गत करैता गाँव के अनेक पात्रों की भीतरी-बाहरी पर्तों के आधार पर पहचान उभारी है। करैता गाँव की विविध वैतरणियों में डूबते-उतराते ये अनेक पात्र अपने-आपमें 'सम्पूर्ण' न होकर 'अपूर्ण ही' रह गये हैं। अपूर्ण रहते हुए भी ये पात्र अपना अभीप्सित प्रभाव छोड़ते है और इसका, "हर चरित्र अपने पैरों पर खड़ा होता है, चलता है, लड़खड़ाता भी है पर लेखकीय बैसाखी नहीं लगाता"'जिस चरित्र में जितना अधूरापन है उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्श चरित्र रखने के फेर में उसमें भराई नहीं की

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० १२६, ३०।

अपने बदमाश दोस्त शिवराम को अपने-आपको सौंप बैठा। शिवराम ने अपने निम्न अहं एवं दानवी भूख की तृप्ति गोपाल के शरीर से कर ली। और जब यह क्रम निरंतर चलता गया तो एक दिन आ गया जब कमर में दर्द, आँखों के आगे चिनगारियाँ छूटने लगीं। हैडमास्टर मुंशी जवाहर लाल का भी अजब हाल है। वह भी रात को पत्नी का अभाव स्कूल के शिष्य गणेशदास से भगाता है। पढ़ाने के बदले फीस ही नहीं शरीर की फीस भी गाँव के निरीह बच्चों से ली जाती है। समलैंगिक मैथुन की एकाध घटना काफी थी। पता नहीं लेखक को करैता की इन गर्हितताओं के उद्घाटन में इतनी रुचि क्यों रही। लगता है शहरी उपन्यास 'मछली मरी हुई' आदि यौनपरक उपन्यासों का काफी गहरा प्रभाव उन पर है जिसे उन्होंने गाँव में खोजकर उद्घाटित किया है।

'अलग-अलग वैतरणी' में करैता गाँव की नगरोन्मुखता एक समाजशास्त्रीय सच्चाई है। गाँव का निम्न वर्ग ही शहरों के प्रति आकृष्ट नहीं है अपितु गाँव की सारी पढ़ी-लिखी ऊर्जा उस ओर चली जा रही है। अगर गरीब रोजी-रोटी के लिए जा रहे हैं, तो पढ़े-लिखे सामाजिक सुरक्षा एवं आत्म-सम्मान की रक्षा हेतु जा रहे हैं। करैता में न विपिन रह पाता है न देवनाथ, न शशिकान्त रह पाता है न खलील मियाँ। यहाँ रहने लायक कोई भी नहीं रह पाता। विपिन के गाँव छोड़ते समय जग्गन मिसिर का यह कहना बहुत हद तक उसकी आन्तरिक पीड़ा को ही अभिव्यक्त करता है, "हमारे गाँवों से आजकल एक तरफा रास्ता खुला है। निर्यात—सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है वह यहाँ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे ताजे जानवर, बैल, भेड़-बकरे जाते हैं। हट्टे-कट्टे मजबूत जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिए जाते हैं पल्टन में, पुलिस में। मलेटरी में मिल में। फिर वैसे लोग, जिनके पास अकल है, पढ़े-लिखे हैं यहाँ कैसे रह जाएँगे? वे जाएँगे ही। जाना ही होगा।"[1] गाँव की यह भोगी हुई वास्तविकता है जिससे गाँव-देहात का हर आदमी वाकिफ है। गाँव में तो मात्र वही रहता है जो कहीं और खप नहीं पाता। गाँवों के उद्धार की दृष्टि से यह स्थिति चिन्तनीय है। लेखक ने उचित परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उठाया है। गाँवों के टूटते स्वरूप को जैसे भी हो रोकना होगा, क्योंकि सच्चा भारत तो गाँव की झोपड़ियों में ही बसता है। अगर ये झोपड़ियाँ इस तरह वीरान होने लगीं तो देश का क्या होगा?

शिवप्रसाद सिंह का कथा-संयोजन गाँव का समग्र रूप आँकने में काफी हद तक सफल रहा है। एक केन्द्रीय कथा के चारों ओर दर्जनों किसान-परिवारों की उपकथायें इस कौशल से बुनी हैं कि कहीं गाँठें नहीं पड़ी हैं। कथात्मक संयम या संतुलन एकाध स्थल पर स्खलित होता है अन्यथा गाँव के एक-एक अंग को उचित

---

१. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ६७४।

सन्दर्भों में पूरी साज-सँवार के साथ प्रस्तुत किया है। इस साज-सँवार में परिवेश सृष्टि का अपना महत्त्व है जिसे शिवप्रसाद सिंह ने खूब अच्छी तरह समझा है। परिवेश संरचना में प्रकृति के गाढ़े और फीके दोनों चित्र उन्होंने बनाये हैं, गाँव की भौगोलिक स्थितियाँ पतली-मोटी रेखाओं में अंकित की हैं तथा यहीं-कहीं ग्राम-जीवन की जटिलताओं के भी संश्लिष्ट चित्र अंकित किए हैं जिनमें गाँव जीवन्त हो उठता है। परिवेश अंकन में लेखकीय दृष्टि बड़ी पैनी है और उससे शायद ही कोई वस्तु छूटती हो, लेकिन इस पर्यवेक्षण में प्रकृति जीवन का अंग बनकर नहीं आती अपितु यथातथ्य वर्णन ही अधिक उभरते हैं। ग्रीष्म ऋतु के बैसाख महीने में करैता गाँव की क्या स्थिति हो जाती है उसी का एक मौसमी चित्र है, "अब तो पछुवा हवा की गति तेज हो गयी है। बैसाख के शुरू होने में ही भयंकर लू चलने लगी। जलती हुई खपरैलों की छाजनें, उमस से खौलती हुई गलियाँ, धूप में चिलचिलाते आँगन के बीच करैता किसी बूढ़े योगी की तरह धूनी रमाये ऊँघता रहता। आसपास की बावलियों, तलैयों और पोखरों का पानी सूख गया। कीचड़ तक गर्मी की मार से फट गयी है। अभी तक महीने पहले की चादर में हवा की गति पर लहरों की चुन्नट पड़ जाती थी, वहाँ आज सूखी कीचड़ की पीठ पर विभिन्न आकार-प्रकार की दरारें तस्वीरों का जाल बिछाए हुए हैं। इन दरारों से मेंढक और मेंगचियों की मासूम प्यासभरी आँखें झाँका करती हैं। लारभरी जीभें निकालकर हाँफते कुत्ते इस झील में आकर बैठते हैं। दरारों से उछल-उछल कर मेंगचियों का झुण्ड डर के मारे गिरता-पड़ता दूर किनारे की ओर चला जाता।"[1] सघन डिटेल्स वाला यह स्थिति-चित्र गर्मी से जीव-जन्तुओं की परेशानियों एवं आपदाओं का गहरा रूप तो अवश्य उभारता है लेकिन न तो वह किसी पात्र की मन:स्थिति से जुड़ पाता है और न सामाजिक जीवन की विसंगतियों की तलमिया ही उत्पन्न करता है। प्रकृति केवल वर्णनात्मकता का साधन न बनकर अंचल विशेष के जीवन का अंग बनकर आती है। आँचलिक उपन्यासों में प्रकृति अन्य उपन्यासों की भाँति केवल एक परिवेश-निर्मिति या पृष्ठभूमि के रूप में नहीं आती अपितु वहाँ के जीवन की जटिलताओं, अन्तर्विरोधों एवं विसंगतियों के स्पष्ट उद्‌घाटनार्थ ही आती है। 'अलग-अलग वैतरणी' इस दिशा में कुछ पीछे रह गया है।

'अलग-अलग वैतरणी' की पात्रसृष्टि के अन्तर्गत करैता गाँव के अनेक पात्रों की भीतरी-बाहरी पर्तों के आधार पर पहचान उभारी है। करैता गाँव की विविध वैतरणियों में डूबते-उतराते ये अनेक पात्र अपने-आपमें सम्पूर्ण न होकर अपूर्ण ही रह गये हैं। अपूर्ण रहते हुए भी ये पात्र अपना अभीप्सित प्रभाव छोड़ते हैं और इसका, "हर चरित्र अपने पैरों पर खड़ा होता है, चलता है, लड़खड़ाता भी है पर लेखकीय बैसाखी नहीं लगाता'''जिस चरित्र में जितना अधूरापन है उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्श चरित्र रखने के फेर में उसमें भराई नहीं की

1. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० १२६, ३०।

है।'''सभी अधूरे हैं। जैपालसिंह का अधूरापन अपनों के आगे विवश हो जाने का है, कनिया का अधूरापन पति को वश में न रख पाने का है, बुझारथ का अधूरापन पत्नी के आगे चुप हो जाने का है, पटनहिया भाभी का अधूरापन नपुंसक पति को छोड़कर खुलकर न खेलने का है'''।''[1] विपिन, मास्टर शशिकान्त, डाक्टर देवनाथ, खलील मियाँ आदि एक से पात्र हैं जिनमें आदर्शों की घुटन अभी शेष है। दयाल महाराज गाँव के सफर मैना और बड़े आकर्षक पात्र हैं। कनिया भाभी जलती दीपशिखा हैं तो पुष्पा अपनी उमड़-घुमड़ में खोई षोडशी जो अपने मन की भी अपने बचपन के प्रेमी विपिन से एक नहीं कह पाती। धरमूसिंह टूटे किसान हैं। हरिया, सिरिया, छबिलवा, शशधर और सूरत आदि यहाँ के बदमाश लड़के हैं जो आये दिन गाँव में कोई-न-कोई फड़ रचा करते हैं। खुदाबख्श बहुत ही गिरा हुआ नरकलंक है जो एक तो बुझारथसिंह को गलत कामों की ओर प्रेरित किया करता है साथ ही गाँव की बहू-बेटियों की ओर भद्दी नजर से ताकता है। जग्गन मिसिर गाँव के जिन्दादिल व्यक्ति हैं जिनमें गाँव की शेष मूल्यवत्ता के दर्शन होते हैं। लोक-लाछनों की परवाह किये बिना वह गाँव में अपनी विधवा भाभी के सहारे जिन्दगी काट देता है। मुंशी जवाहरलाल गाँव की शिक्षा के चालक हैं तो सुखदेव राम देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था के। एक गाँव की उगती हुई पौध (युवा पीढ़ी) को बर्बाद करने में लगा है, तो दूसरा पंचायत का प्रधान बनकर गाँव को कभी पुलिस से लुटवाता है, कभी स्वयं लूटता है और रात-दिन अपने आका जैपालसिंह (टूटे हुए जमींदार) के निर्देशन में पैसा बटोरने की उल्टी-सीधी योजनायें बनाता रहता है। जगेसर सिपाही की अपनी ही ऐंठ है और गाँव में वह अपनी खूब हेकड़ी चलाता है। जो भी हो गाँव की विभिन्न राहों से लिए गए विभिन्न पात्र अपने-अपने लिए आते हैं और अपनी-अपनी पहचान उभारते हैं। कोई किसी की मातहती नहीं करता।

'अलग अलग वैतरणी' के भाषिक रचाव में लेखक ने लोक-जीवन की लय को भलीभाँति समझा है। आधुनिक नगर-बोध-संबंधी उपन्यासों की भाँति इसमें अंग्रेजी के शब्द और मुहावरों के स्थान पर भोजपुरी के शब्द-भण्डार को पात्रानुरूप प्रयुक्त किया है। लोक-गीतों की छटायें भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती हैं जो उचित सन्दर्भों में अपने स्वरों की अनुगूँज से कृति की प्रभावात्मकता को यथासंभव बढ़ाती हैं। प्रकृति और परिवेश के यथार्थ को अभिव्यक्ति करने वाले बहुआयामी बिम्बों की सरंचना भी हुई है। लोक-जीवन से नयी-नयी उपमायें चुनकर कथ्य की भंगिमाओं को श्लिष्ट बनाया गया है। दो पंक्तियों के एक वाक्य में कितना सटीक और रंग-बिरंगा चित्र प्रस्तुत किया है, "देखिये, वह पूरा सिवान जैसे रंगीन कलाबत्तू की ओढ़नी है जिसे अपने सीने पर फरफराती धूप गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है।"[2] धूप का मानवीकरण कर रूपक की योजना लेखकीय कलात्मकता

---

१. दिनमान २१ मई १९६९, पृ० ३१।

२. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ३४६।

का एक उदाहरण है। जग्गन मिसिर ने खलील मियाँ की तहजीब का मानवीकरण कर उन पर कठोर व्यंग्य किया है ताकि उनके अन्दर रोप जगे, "पेट में दाना रहता है तो साली तहजीब भी कुत्ते की तरह दुम हिलाती है। अगर घर में चूहे दण्ड पेल रहे हों तो तहजीब भी कटही कुतिया की तरह गुर्रा कर अलग हो जाती है।"[1] यही नहीं लेखक गांव की पूरी महँक और गमक का लेखा-जोखा कहीं नागरमोथा के बादामी फूलों की सुगंध से, कहीं पियरी माटी से पुती दीवारों की सोंधी महँक से तो कहीं खेत-खलिहानों की भुरभुरी गंध से रूपायित करता है। शिवप्रसाद सिंह की भाषा के विषय में इतना स्पष्ट है उन्होंने बड़ी ताजी भाषा का सर्जनात्मक उपयोग किया है जिसमें अभिजातता दृष्टिगत नहीं होती। विविध शब्द-प्रयोगों के आधार पर यह कहना कतई दुरुस्त है कि इन्होंने उपन्यास में लोकभाषा को खड़ी बोली में बखूबी मिला-जुलाकर प्रयुक्त किया है।

अन्त में लेखकीय रचनाधर्मिता और कृति के समग्र प्रभाव का प्रश्न इतना कहने के लिए बाध्य करता है कि लेखक करैता गांव के सामाजिक यथार्थ की विविध भंगिमाओं को यथार्थवादी दृष्टि से रूपायित तो करता है लेकिन कहीं उसका संतुलन स्थानीय रंगत के मोह से बिगड़ता है, कहीं प्रकृति के निरर्थक दृश्य-व्यापार से तो कहीं गैर-मुनासिब प्रसंग अवतारणा से। अतः यह सच है कि 'अलग अलग वैतरणी' अपनी प्रभावनिर्मिति में अपने रूपाकार से पिछड़ जाती है।

१. शिवप्रसाद सिंह: अलग अलग वैतरणी, पृ० ४१४।

है।'''सभी अधूरे हैं। जैपालसिंह का अधूरापन अपनों के आगे विवश हो जाने का है, कनिया का अधूरापन पति को वश में न कर पाने का है, बुझारथ का अधूरापन पत्नी के आगे चुप हो जाने का है, पटनहिया भाभी का अधूरापन नपुंसक पति को छोड़कर खुलकर न खेलने का है'''।''[1] विपिन, मास्टर शशिकान्त, डाक्टर देवनाथ, खलील मियाँ आदि एक से पात्र हैं जिनमें आदर्शों की घुटन अभी शेष है। दयाल महाराज गाँव के सफल नेता और बड़े आकर्षक पात्र हैं। कनिया भाभी जलती दीपशिखा हैं तो पुष्पा अपनी उमड़-घुमड़ में खोई मोहिनी जो अपने मन की भी अपने बचपन के प्रेमी विपिन से एक नहीं कह पाती। धरमूसिंह टूटते किसान हैं। हरिया, सिरिया, छबिलवा, शशधर और सूरत आदि यहाँ के बदमाश लड़के हैं जो आये दिन गाँव में कोई-न-कोई फड़ रचा करते हैं। खुदाबख्श बहुत ही गिरा हुआ नरकलंक है जो एक तो बुझारथसिंह को गलत कार्यों की ओर प्रेरित किया करता है साथ ही गाँव की बहू-बेटियों को और भद्दी नजर से ताकता है। जग्गन मिसिर गाँव के जिन्दादिल व्यक्ति हैं जिनमें गाँव की शेष मूल्यवत्ता के दर्शन होते हैं। लोक-लाछनों की परवाह किये बिना वह गाँव में अपनी विधवा भाभी के सहारे जिन्दगी काट देता है। मुंशी जवाहरलाल गाँव की शिक्षा के घातक हैं तो गुरदेव राम देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था के। एक गाँव की उगती हुई पौध (युवा पीढ़ी) को बर्बाद करने में लगा है, तो दूसरा पंचायत का प्रधान बनकर गाँव को कभी पुलिस से लुटवाता है, कभी स्वयं लूटता है और रात-दिन अपने आका जैपालसिंह (टूटे हुए जमींदार) के निर्देशन में पैसा बटोरने की उल्टी-सीधी योजनायें बनाता रहता है। जगेसर सिपाही की अपनी ही ऐंठ है और गाँव में वह अपनी खूब हेंकड़ी चलाता है। जो भी हो गाँव की विभिन्न राहों से लिए गए विभिन्न पात्र अपने-अपने लिए आते हैं और अपनी-अपनी पहचान उभारते हैं। कोई किसी की मातहती नहीं करता।

'अलग अलग वैतरणी' के भाषिक रचाव में लेखक ने लोक-जीवन की लय को भलीभाँति समझा है। आधुनिक नगर-बोध-सम्बन्धी उपन्यासों की भाँति इसमें अंग्रेजी के शब्द और मुहावरों के स्थान पर भोजपुरी के शब्द-भण्डार को पात्रानुरूप प्रयुक्त किया है। लोक-गीतों की छटायें भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती हैं जो उचित सन्दर्भों में अपने स्वरों की अनुगूँज से कृति की प्रभावात्मकता को यथासंभव बढ़ाती हैं। प्रकृति और परिवेश के यथार्थ को अभिव्यक्ति करने वाले बहुआयामी बिम्बों की संरचना भी हुई है। लोक-जीवन से नयी-नयी उपमायें चुनकर कथ्य की भंगिमाओं को सश्लिष्ट बनाया गया है। दो पंक्तियों के एक वाक्य में कितना सटीक और रंग-बिरंगा चित्र प्रस्तुत किया है, "देखिये, यह पूरा सिवान जैसे रंगीन कलाबत्तू की ओढ़नी है जिसे अपने सीने पर फरफराती धूप गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है।"[2] धूप का मानवीकरण कर रूपक की योजना लेखकीय कलात्मकता

१. दिनमान २१ मई १९६६, पृ० ३६।

२. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, पृ० ३४६।

का एक उदाहरण है। जग्गन मिसिर ने खलील मियाँ की तहजीब का मानवीकरण कर उन पर कठोर व्यंग्य किया है ताकि उनके अन्दर रोष जगे, "पेट मे दाना रहता है तो साली तहजीब भी कुत्ते की तरह दुम हिलाती है। अगर घर में चूहे दण्ड पेल रहे हो तो तहजीब भी कटही कुतिया की तरह गुर्रा कर अलग हो जाती है।"[1] यही नही लेखक गाँव की पूरी महँक और गमक का लेखा-जोखा कही नागरमोथा के बादामी फूलो की सुगंध से, कही पियरी माँटी से पुती दीवारो की सोंधी महँक से तो कही खेत-खलिहानो की भुरभुरी गध से रूपायित करता है। शिवप्रसाद सिह की भाषा के विषय मे इतना स्पष्ट है उन्होंने बडी ताजी भाषा का सर्जनात्मक उपयोग किया है जिसमे अभिजातता दृष्टिगत नही होती। विविध शब्द-प्रयोगो के आधार पर यह कहना कतई दुरुस्त है कि इन्होंने उपन्यास मे लोकभाषा को खडी बोली मे बखूबी मिला-जुलाकर प्रयुक्त किया है।

अन्त मे लेखकीय रचनाधर्मिता और कृति के समग्र प्रभाव का प्रश्न इतना कहने के लिए बाध्य करता है कि लेखक करैता गाँव के सामाजिक यथार्थ की विविध भंगिमाओं को यथार्थवादी दृष्टि से रूपायित तो करता है लेकिन कही उसका सतुलन स्थानीय रगत के मोह से बिगड़ता है, कही प्रकृति के निरर्थक दृश्य-व्यापार से तो कही गैर-मुनासिब प्रसग अवतारणा से। अतः यह सच है कि 'अलग अलग वैतरणी' अपनी प्रभावनिर्मिति मे अपने रूपाकार से पिछड़ जाती है।

---

१. शिवप्रसाद सिंह: अलग अलग वैतरणी, पृ० ५३५।

जल टूटता हुआ :

रामदरश मिश्र

रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ' उपन्यास साठोत्तरी दशक का एक उल्लेखनीय उपन्यास है जिसमें अन्तर्गत एक विशिष्ट भूभाग के माध्यम से उभरती हुई आज के भारतीय गांव की अनुभूति-गाथा है। यह अनुभूति-गाथा आज के गांवों के बदलते हुए जीवन-सन्दर्भों की सही पहचान और उनके बीच उभरती-गिरती जिन्दगी की चेतना सम्भावनाओं की प्रतीति में निहित है। लेखक ने अपने गांव की धरती से जुड़कर भोगे हुए यथार्थ की विभिन्न मनःस्थितियों को, सम्बन्धों के तनाव और विघटन की मूल्यों एवं विसंगतियों के बनते बिगड़ते स्वप्नों को तथा जीवन के भीतरी-बाहरी अभावों की विषम और क्रूर चुनौतियों को आधुनिक सन्दर्भों (नयी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों) में स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

'जल टूटता हुआ' में लेखक ने अपने कछार अंचल के एक गांव तिवारीपुर की धरती, उसकी बेचैनी, उसकी बेबसी, उसकी प्राकृतिक सुन्दरता और भयावहता सभी का जीवन्त चित्र खींचा है। लेखक ग्रामीण यथार्थ का प्रामाणिक जानकार है। उसने परिस्थितियों, संघर्षों, संवेदनाओं और मूल्यों के बीच से अपनी कथा-यात्रा तय की है तथा अन्तर्विरोधों के तनाव की सही पहचान प्रस्तुत कर टकराहटों के स्वरों को वाणी दी है। 'जल टूटता हुआ' में यह टकराहट वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर है। एक ओर यह टकराहट महीपसिंह और जगपतिया, महीपसिंह और सतीश, दीनदयाल और कुंजू-बिरजू, सतीश और रामकुमार, ब्राह्मण और हरिजन, हिन्दू और मुसलमान, जमींदार और मजदूर में है तथा दूसरी ओर टकराहट आतरिक है। प्रधान सतीश की सतीश से, मास्टर सुगन की सुगन से, नेता रामकुमार की रामकुमार से तथा मजदूर नेता जगपतिया की जगपतिया से। दोनों प्रकार से उत्पन्न अन्तर्विरोध की टकराहटें गाँव का सही यथार्थ-बोध कराती हैं। लेखकीय-दृष्टि सर्वत्र अभिशप्त मानवता का कलात्मक ढंग से पक्ष लेती है तथा उसके दुख-दर्द, प्रतारणा और अवमानना को उजागर कर अभिजात-वर्ग के प्रति एक तीखा रवैया अपनाती है तथा उसकी कुरूपताओं को और गहरे दर्शाती है। लेखक ने अभिशप्त वर्गों की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी पीड़ाओं के प्रति हमदर्दी दिखाई है। यह बात अलग है कि लेखक ने न तो नारेबाजी की है और न किसी दल विशेष का प्रचार। वर्ग-संघर्ष की स्थितियाँ

गाँवों के अनुकूल सन्दर्भों में ही व्यक्त हो पायी हैं न कि किसी मताग्रह के कारण। गाँव का अप्रतिबद्ध सतीश खूब जुझारू है, वह समझौता नहीं करता वह टूटता रहता है और टूटता हुआ भी लड़ता है। उसका लड़ना न तो बड़बोलेपन का लड़ना है और न फार्मूलाबद्ध चिन्तन का लड़ना है। वह गाँव की जमीन का गढ़ा हुआ संस्कारी आदमी है जो अच्छा-बुरा पूरी तरह पहचानता है। भाटपार स्कूल के स्वाधीनता-दिवस समारोह से उपन्यास का श्रीगणेश होता है, और समारोह की अध्यक्षता करते हैं डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य, जवार के जमींदार, और उपन्यास के खलनायक महीपसिंह जो अपने अत्याचारी एवं हठवादिता के लिए 'नर राक्षस' तक कहाते हैं। समारोह के संयोजक हैं—तिवारीपुर के मास्टर सुगन, जिन्हें कई मास तक प्रायः वेतन नहीं मिलता, फाके काटते हैं। वे आज आजादी की वर्षगाँठ के दिन भी पेट में भूख लिए, अंतड़ियों के दर्द को सहते, जब स्कूल आ रहे होते हैं तो मार्ग में कीचड़ में फिसल कर धड़ाम से गिर जाते हैं, और सारे कपड़े बुरी तरह कीचड़ में लथड़ जाते हैं। बेचारे मास्टर सुगन अपनी फटेहाली पर टूट उठते हैं क्योंकि बहुत चाहते हुए भी वे एक साथ दो कुर्ते और तीन धोतियाँ नहीं जुटा पाये। घर लौटें या न लौटें के मानसिक ऊहापोह में फँसे मास्टर आखिर निर्णय ले ही लेते हैं कि वे स्कूल चलें क्योंकि घर पर ही कौन सी धुली पोशाकें रखी हैं? वहीं गड्ढों में भरे पानी में ही कपड़े जैसे-तैसे धो-धाकर बरसात में भीगते मास्टर स्कूल पहुँचते हैं क्योंकि इन्स्पेक्टर महोदय का सख्त आदेश था कि स्वाधीनता दिवस खूब धूमधाम से मनाया जाय। स्कूल की नकली सजावटों और बनावटी खुशियों के बीच भी मास्टर सुगन की निगाह से बच्चों की, हँसी को पहने चेहरों के भीतर गीली-गीली आँखें छिप नहीं पातीं। उन आँखों में अकथ कहानियाँ भरी हुई थीं—"ये आँखें बहुत रोई हैं साफ कपड़ों के लिए, टोपी के लिए और इन्हें कुछ मिला हो या न मिला हो, घरवालों के तीखे थप्पड़ जरूर मिले हैं।"[1] खैर मास्टर सुगन इसी में सन्तोष करते हैं कि बच्चों ने कपड़े के स्थान पर कागज की टोपियाँ पहन उनके आदेश का निर्वाह किया है। जमींदार अपने ठाठ-बाट से बढ़िया लिबास में आते हैं, मास्टर सुगन अपने को मार, भारी हृदय से उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं, जिसके उत्तर में महीपसिंह आजादी की रक्षा और आपस में प्रेम-सौहार्द्र का उपदेश देते हैं। उपन्यास का यह प्रारंभिक समारोह अपने-आप में आजादी की वर्षगाँठ के ताने-बाने ही सिर्फ लपेटे हो, ऐसी बात नहीं। इसके माध्यम से कई बातों की ओर एकदम संकेत होने लगते हैं। लेखक अपनी प्रामाणिक जीवनानुभूतियों के बल पर गाँव की गरीबी, उसके अभाव और जड़ता के सन्नाटे के बीच से उभरते हुए राजनीतिक चेतनागत आक्रोश को वाणी देता है। आजादी के संघर्ष में अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाने वाले और उनके साथ गोटी बिठाने वाले किस कदर गाँव की राजनीति पर हावी होने को आतुर हैं, इसका स्पष्ट विवरण हमें इस समारोह से मिलता है, साथ ही नेताओं की-

१. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ६।

कार्य-परिणति, मानो उद्घाटन समारोह ही हो, इस स्थिति पर भी एक करारा व्यंग्य है। सामन्ती वर्ग हर सम्भव हथकण्डे अपना कर अपने हाथ से निकलती सत्ता को पूर्ववत् बनाये रखना चाहता है। जमींदारी प्रथा टूट जाती है, पर के मजदूरों की रोजी-रोटी का प्रबन्ध भली-भाँति नहीं हो पाता लेकिन महीपसिंह है कि शोषण-लूट और झूठे दम्भ को बदरी के मरे बच्चे की लाश तक दिखाते रहते हैं।

गाँव में राजनीति की डायन किस प्रकार गली-गली में भटकती फिर रही है, यह हमें मास्टर रामकुमार, जमींदार महीपसिंह और छुटभइये दीनदयाल तथा दीप्ता-राम के विभिन्न कृत्यों से भलीभाँति दिखायी देती है। गाँव में पंचायत का चुनाव क्या आया एक बड़ी आफत आ गई। कल तक दोस्ती का दम्भ भरने वाले रातों-रात पलट गये, रात बिरात खेत-खलिहान फूँकने लगे, अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक प्रपंच रचे जाने लगे, गली-गली घूमकर दीनदयाल अपने लिये वोट मांगने लगे और सतीश-गुट के विरोध के लिये नये-नये प्रपंचों को खड़ा करने लगा। महीपसिंह की गिद्ध-दृष्टि भी सरपंची पर लगी थी और वह भी दीनदयाल आदि के गुट से जोड़-तोड़ कर सतीश के खिलाफ कार्य करने लगा। उसने भी अपनी चालों-करतूतों से एक भी चाल बाकी नहीं रखी। सतीश को अनेकों मानसिक यातनायें दी, उसके खेत कटवायें, उस पर आक्रमण की योजनायें बनाईं और उसके खिलाफ गुगन मास्टर, महावीर, फेंगू बाबा जैसे अदना इन्सानों को भी चुनाव की भट्टी में झोंक दिया लेकिन सत्य, सत्य ही रहता है और जमींदार का दम्भ जबार की जागरूक जनता ने तोड़ दिया। गुददीन, रमधनिया और जगपतिया ने महीपसिंह को करारी राजनीतिक मातें दी हैं। चुनाव में आवभगत के लिए *शहरी दावपेंच तक चलाये गये।* *कुजू सतीश गुट* के लिये बांसुरी बजा-बजाकर लोगों को तोड़ता है, तो दीनदयाल का प्रचारक है मउगा दर्लासगार, जो औरतों से हाथ मटका-मटका कर वोटों के लिये विनती करता है। दीनदयाल जैसे पापियों ने गंवई राजनीति को ही बदनाम कर दिया और मउगा ने दर्लासगार से मिलकर बदमी कुजू के खिलाफ षड्यन्त्र किया। दर्लासगार सरपची कि चुनाव के दिन तो गाँव की जटिलता बड़ी खलने लगी और सतीश के पिता अमलेश जी कह उठे कि, "वह भी एक जमाना था कि लोग ललकार कर मैत्री और दुश्मनी करते थे, समर्थन और विरोध करते थे, अपनी बात पर मर मिटते थे। वही गाँव है, लेकिन इसे समझना मुश्किल हो गया है। शहरों की-सी जटिलता यहाँ भी आ गयी है। भाई-भतीजों को भी समझना कठिन हो रहा है'''राजनीति की स्वार्थ-गत दुरूहता यहाँ इस कदर फैल गयी, यह बात सभी के सामने आज जाने-अनजाने प्रत्यक्ष हो रही थी।"[१] गाँव के हर कदम पर राजनीति की काली छाया विद्यमान है। गाँव के विद्यालय का इंतजाम हो या पंचायती चुनाव, चकबन्दी हो या सरपंची, मजदूरों की रोजी-रोटी का सवाल हो या कुछ और, सभी कुछ राजनीतिक तन्तुओं

---

१. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ३११।

से जुड़े होते हैं। और तो और मानवीय मूल्यों में भी राजनीति घुस आई है। गाँव का सरपंच सतीश जिसने अपने-आपको आग में झोंक कर भी न्याय का मूल्य चुकाया, अंत मे इस राजनीति के दर्द से ही कराह उठता है और कहता है कि आखिर इस और इस जैसे अनेक गाँवों का क्या होगा ?

लेखक ने गाँव के धर्म-निरपेक्ष चेहरे पर पड़ी झुरियो और सिकुड़न की रेखाओं को एक समीपी द्रष्टा की दृष्टि से निरखा-परखा है। एक दिन महीपसिंह के गाँव का अहीर जब मास्टर सुग्गन से उसके लड़के के दोस्त और उसके प्रिय शिष्य असगर के विषय मे पूछताछ करता है और बातचीत के मध्य मुस्लिमों के प्रति दुराग्रह व्यक्त करता है तथा चेतावनी देता है तो सुग्गन मास्टर की शिरायें काँप उठती हैं और तुरन्त समीपवर्ती जमालपुर गाँव का नक्शा और उसके कुछ विशिष्ट व्यक्ति उनके स्मृति-पटल पर आ जाते हैं, जिनमें एक है रमजान काका, जो शादी-ब्याह जैसे मांगलिक अवसरों पर गाँव भर के कपड़े सीते है, दूसरे हैं—अब्दुल्ला जो गाँव की बहन-बेटियों को स्टेशन से घर और घर से स्टेशन ले जाते हैं, लेकिन मजाल है कि कोई रास्ते मे आँख मिला जाय, तीसरे हैं मौलवी करीमुद्दीन जिनसे गाँव के कितने ही लड़कों ने तालीम हासिल की है। और है अनेक औरत-पुरुषों के कतार बाँधे चेहरे जो गेहूँ-जौ की फसलें काटते हैं और साथ-ही-साथ कंठ से होली भी गाते हैं। कैसा सौहार्द्र भरा वातावरण है गाँव का—जहाँ हिंदू और मुसलमानो मे कोई लक्ष्मण रेखा 'एग्ज़िस्ट' नही करती। लेकिन आजादी क्या आई ? गाँव के चेहरे भी बदल उठे। मासूम छात्र असगर भी लोगों की आँखो की किरकिरी बन गया और कुछ दिन बाद सुना गया कि उसकी लाश नाले के पास पड़ी पायी गई। उत्सव-त्यौहार जो सामूहिक जिन्दगी मे खुशियाँ लाते थे अब वैर और क्रोध के बीज लाते हैं। ऐसा ही दिन आया मोहर्रम का जब धर्म और मजहब मात्र दिखावे की डुगडुगी बनकर रह गये और प्रमुख हो गया आदमी का दम्भ। मुसलमानों ने जिद की कि ताजिये हर साल की लीक पर ही चलेंगे चाहे किसी की फसलें रौंदी जाएँ, चाहे पेड़ काटे जाएँ और उधर महीपसिंह के लठैत तैयार बैठे थे, तो भला खून-खराबा क्यों रुकता ? दोनों पार्टियाँ अपने दंभ और ऐंठ मे ऐंठी रही और साम्प्रदायिकता का उन्माद उन पर चढ बैठा - फसलें रौंदी गयी, ताजिये बीच से चले और लाठियाँ चल गईं और परिणाम हुआ कि, "कितने लोग धर्म के नाम पर मरे किन्तु धर्म के रक्षक बाबू साहब और सैयद साहब धर्म की रखवाली मे घर मे ही पड़े रहे, धर्मात्मा बने हुए। उन्हें न चोट आई, न उनके परिवारो का कोई आहत हुआ और धर्म की रक्षा भी हो गई।"[1] कैसा जीवन्त यथार्थ है आज का ? लेखक की सम-सामयिक जिन्दगी मे गहरी पैठ इससे स्पष्ट है।

प्रगतिशीलता इस उपन्यास का मुख्य स्वर है, जिसके बृहत् कलेवर में सारा

---

१. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० २४।

कछारांचल अपनी सहजता लिये उजागर हुआ है। लेखक यथार्थ से प्रतिबद्ध है न कि किसी दलगत सत्य से। उपन्यास में व्यक्त जीवन-यथार्थ से यह स्वतः सिद्ध है कि रचना के स्तर पर लेखक का न तो किसी राजनीतिक दल से विरोध है, न किसी दल की मान्यताओं के प्रति अंधभक्ति, जिन्हें प्रचारित एवं प्रसारित करना उसका उद्देश्य रहा हो। कृतिकार ग्राम-जीवन की विभिन्न राहों से गुजर कर जर्जर परम्पराओं को धकेलता हुआ प्रगतिशीलता की ओर बढ़ा है। उपन्यास में व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में देखा गया है। समाजवादी रामकुमार हों, चाहे कांग्रेस के एम० पी० काली प्रसाद, चाहे हरिजन नेता जग्गू हों या फिर कोई और, सब को उनके कृतित्व के आधार व्यक्तित्व दिये गये हैं। निम्न एवं दलित वर्ग के प्रति लेखक की सहृदयता सर्वत्र देखने को मिलती है। 'रेणु' के 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' के 'डाक्टर प्रशान्त' और 'जित्तन' जैसे अभिजात वर्गीय वरीयता प्राप्त पात्र यहाँ नहीं हैं। यहाँ तो जगपतिया, रमधनिया, गुरदीन, कुजू, बदमी और लवगी जैसे आगभरे निम्न-वर्ग के पात्र हैं या फिर सतीश, चन्द्रकान्त, अनजान राय जैसे सबल पथगामी लोग हैं जिन्होंने अपनी जिन्दगी की राह आपदाओं के बीच स्वयं बनाई है। जमींदारी-उन्मूलन, चकबन्दी एवं अन्य भूमि-सुधारों से ग्रामीण खेतिहर-मजदूरों में चेतना जाग्रत हो रही है। शहरों की मिलों, कोइलरी और कारखानों में काम कर संघर्ष की आग लिये अनेकों जगपतिया शहर से गाँव लौट रहे हैं और वे तथा उनसे प्रभावित अन्य ग्रामीण मजदूर सामंती जमींदारों के अत्याचारों एवं अनाचारों का शिकार बनना नहीं चाहते। बाबू महीपसिंह के अत्याचारों और क्रूरताओं से आहत उनके कारिन्दे सतीश की बात सच ही तो है कि, "यह जड़ आदमी बदले हुए जमाने को नहीं समझता। भीतर से सब कुछ टूटता जा रहा है, लेकिन बाबू महीपसिंह के कान बन्द हैं, आँखें मुंदी हैं, इनके पास बस गाली है, मुक्का है, लात है, और··· और··· ।"[1] सतीश का दर्द सच्चा है क्योंकि परिवर्तन की गति न समझना मूर्खता ही है। प्रगतिशीलता को अभिव्यक्त करने का एक अवसर और मिलता है और वह है हाई-स्कूल में आयोजित खेल-कूद और सांस्कृतिक प्रतियोगिता का अवसर। सतीश के छोटे-भाई चन्द्रकान्त को भी स्कूल के सेक्रेटरी लालमणि बुलावा भेजते हैं, वे आते हैं, आभार प्रकट करने हेतु जब वे खड़े होते हैं तो अपनी ग्रामीण समस्याओं को व्यक्त करते हुए बड़े तीखे व्यंग्य करते हैं जिससे बाबू सागरसिंह तो बीच में उठ कर चले जाते हैं और अन्य नेता तिलमिला उठते हैं, क्योंकि वह एक जीवन्त सच्चाई थी—जवार में बाढ़ गरीबी, चिकित्सालयों का अभाव, शिक्षालयों की दुर्व्यवस्था, रोजी-रोटी का प्रश्न आदि ऐसे सवाल थे जो अनुत्तरित रह कर सभा में उपस्थित जन-जन के मन को मथ कर अग्नि पैदा कर रहे थे। सतीश की न्यायप्रियता और सत्य के प्रति अटूट आस्था को देख कुछ आलोचकों ने इसे आदर्शवादी पात्र की संज्ञा

---

१. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ०, ४६।

दी है जबकि वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। आज के जन-जीवन में ऐसे अनेकों अपरिचित सतीश हमें मिल जायेंगे जो जीवन के विभिन्न चौराहों पर टकरा कर भी मानवीय मूल्यों की आस्था जिलाये रखते हैं। वास्तव में यह एक 'रियल्टी' है और सतीश 'रियलस्टिक' पात्र है, भले ही देश के कुछ वर्तमान राजनीतिक युवा नेताओं की प्रतिच्छाया हमें रामकुमार में भी दीखती है। बदमी कुंजू प्रेम-सम्बन्ध, लवंगी की हरिजन नेता जग्गू को फटकार, बदमी द्वारा रघुनाथ बाबा को लताड़ पंचायत में महीपसिंह का दम्भ मर्दन, भूपेन्द्र लाल ए० सी० ओ० का स्थानान्तरण, बिरजू का बचाव आदि विभिन्न स्थल हैं जिनसे लेखक के प्रगतिशील रुझान का परिचय मिलता है। उपन्यास के विभिन्न मोड़ों से गुजर कर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि लेखक दलगत प्रतिबद्धता से असम्पृक्त होकर भी रचनात्मक तटस्थता के साथ यथार्थ के विभिन्न उपकरणों द्वारा प्रगतिशीलता का जो बिम्ब उभारता है उसमें जिन्दगी की अनुभूत सच्चाई दिखाई पड़ती है, फार्मूलावादी दृष्टि का भ्रम-जाल नहीं।

'जल टूटता हुआ' उपन्यास जैसा कि नाम से ही अभिव्यक्त है, गँवई जिंदगी में टूटन और उसमें टूटते-बनते, सम्बन्धों का अजीबोगरीब सिलसिला है। इसके विशाल कलेवर में लेखक ने विभिन्न सदर्भों में बनते-बिगड़ते नाना सम्बन्धों का वृहत लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। गाँवों में पारिवारिक सम्बन्धों एवं अन्तर्जातीय सम्बन्धों में जहाँ बदलाव के स्वर समाहित है, वहाँ आर्थिक आधार पर मजदूरों में पारस्परिक सम्बन्ध-सर्जन हो रहा है जिसको बड़ी गहराई एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषित करने का प्रयत्न लेखक ने किया है। संयुक्त-परिवार अब टूट रहे हैं— भाई-भाई, बहिन-भाई, बाप-बेटे, देवरानी-जिठानी, चाचा-ताऊ आदि के मधुर सम्बन्धों में अब नयी कड़वाहट आ रही है जिसके अनेक उदाहरण है— बनवारी, धनपाल अलग-अलग हो गये है, बंशी, अर्जुन अलग-अलग रहने लगे हैं, इधर रामकुमार बंशी में फूटी आँख नहीं बनती। बंशी और अर्जुन की बहू में रात-दिन तनती है। इन सम्बन्ध तनावों के मूल में आर्थिक अभाव, सामाजिक बदलाव और शहरी सभ्यता सभी का थोड़ा-बहुत हाथ है। गाँव के अन्तर्जातीय सम्बन्धों में नये मोड़ आये हैं। ऊँची-नीची जातियों में भी प्रेम-सम्बन्ध उभर रहे है और कुंजू खुले आम बदमी के साथ अपने प्रेम-सम्बन्धों को स्वीकारता है तथा वह दीन दयाल, दौलत राय, दल-सिंगार (जो पर्दे के पीछे अपनी शारीरिक भूख मिटाते हैं) को दुत्कारता है। दलसिंगार-इलवा दौलतराय, फुलवा, दीनदयाल और महावल की पत्नी, हँसिया-पारवती आदि अनेक नाम हैं जो अपनी कामुकता चोरी-छिपे निभाहते हैं और समाज में ऊँची नाक भी रखना चाहते है लेकिन लेखक सच्चाइयों को उजागर करता है। यही पंडित की पारवती जब अपने हलवाहे हँसिया के साथ सदा के लिए गाँव छोड़कर भाग रही थी तो मार्ग के अँधेरे में रामबहादुर ने चौंककर पूछा—कौन है? वह हड़बड़ा कर अपने त्रिया-चरित्र का नाटक कर तुरन्त चीख मार कहने लगी—"छोड़-छोड़

अभागे, नही तो मैं तेरी जान ले लूंगी, कमीने मुझे कुछ ऐसा-वैसा समझता है क्या ?"[१] सारा गांव बेचारे हँसिया पर बगैर सच्चाई जाने पिल पड़ा, क्योकि वह चमार था, लेकिन एक हँसिया था जो पारबती की इज्जत बचाये मौन पिटता रहा। लेकिन उसकी बहिन लवगी भरी घटा की भाँति बरस पड़ती है और कहती है, 'क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बाभन की लड़की से भला-बुरा किया ? चमार का खून, खून नही है ? बाभन का हो खून, खून है। हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या, बाभनों की ही इज्जत होती है ? क्यो नेता जी (जग्गू हरिजन) आप चुप क्यों हो ? जब चमरौटी की तमाम लड़कियों पर ये बाबा लोग हाथ साफ करते हैं तो कोई परलय नही आती और कोई चमार बाभन की लड़की को छू दे तो परलय आ जाती है। हरिजनो के नेता, मैं तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेने वाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारी इज्जत इज्जत नही है तो हमारा वोट ही वोट क्यो है ? ...जैसे चमारो की बहू-बेटियां इसीलिए होती है। और ये जग्गू नेता है जो कल तक चिल्लाते थे कि नया जमाना रहा है, नयी जिनगी आ रही है'...।"[२] सत्य की शक्ति और आंसुओं मे विद्रोह लिये लवगी के इन बिचारो ने बड़े सार्थक प्रश्न उठाये हैं। और यदि गंवई समाज अपने झूठे अभिमान मे न सोचे तो क्या, इन स्वरो को नई नारी-चेतना के स्वर नही कहा जा सकता ?

कुजू और बदमी भी ऐसे ही दो अन्य पात्र हैं जो ग्राम-जीवन के चोरी-छुपे अनेक रहस्यो को जानते हैं और खुले आम प्रेम के बन्धन मे बँध गांव छोड़कर कहीं चले जाते हैं जहां उन पर कोई उँगली न उठा सके। बदमी और कुंजू दोनों में ही परम्पराओं को झटकने की, सत्य को उजागर करने की अद्‌भुत शक्ति है। एक बार उमाकान्त पाठक बदमी से (जब वह रात को खाना बनाने आयी थी) दलसिंगार और डलवा का किस्सा बताते हैं जिसको सुन वह कहती है, "छिपे छिपे तो यहाँ खूब चलता है। डलवा क्या कोई एक डलवा है ? गाँव-गाँव मोहल्ले-मोहल्ले मे डलवा फैली हुई है। और ये बाभन लोग ? किसे नही जानती मास्टर साब। दीनदयाल बाबा से कोई झूठी हाडी नही बची है ? जब से दुलहिन मरी, ये यही सब करते घूम रहे हैं और मास्टर साब धीरे-धीरे लोग यह भी कहने लगे हैं कि अपने छोटे भाई की जोरू से भी ' जी होता है कि सब की छिपी हुई झूठी हांडियों को चौराहे पर लाकर पटक दूं।"[३] एक अन्य सन्दर्भ मे (जब कुजू उसे छोडकर गाँव से चला जाता है और उसका पेट रहस्य की चीज नही रह जाता) को जवाब देती हुई कहती है—"खबरदार, रघुनाथ बाबा, सभापति होकर ऐसी बात बोलते हैं। यह गिरने-गिराने का काम आप लोगों के घरो की बाभनियाँ कराती है। मुझसे किसी के घर का कुछ छिपा नही है। औरो के घरो का तमाशा देखने सभी जुट जाते हैं, अपने घरों की ओर नही देखते।

१ रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ३५१।
२. वही, पृ० ३२३-३२४।
३. वही, पृ० ३२५-२६।

मैं पेट क्यों गिरवाती ? यह कोई पाप का बच्चा है। यह अपने बाप का बच्चा है।"[1] सत्य को दृढ़ निश्चय के साथ स्वीकार करना और दूसरों को करारा उत्तर देना सच्चे आदमी का ही काम है। ये सभी विशेषतायें हमें बदमी में मिलती हैं और शारदा जैसी भावुकता उसमें नहीं। गाँव छोड़कर, जाति छोड़कर निम्न जाति में जाना वही श्रेयस्कर मालूम होता है और कुछू खुलेआम दीनदयाल को चुनौती करके कहता है कि ये कहार-चमार बहुत अच्छे हैं। मैं इनसे मिलकर रह सकता हूँ लेकिन तुम्हारे बाभनों के गाँव में नहीं। मैं कहार बन जाऊँ या डोम आपका इससे क्या सरोकार। और वह बदमी को लेकर सदा के लिए गाँव छोड़ जाता है। गँवई परिवेश में नये प्रकार के सम्बन्धों का सृजन हो रहा है—मजदूरों और किसानों में। वे अपने-अपने दर्द से एक-दूसरे के दर्द को पहचान रहे हैं और जुड़ रहे हैं। जमींदारी और ऊँची जाति वालों के खिलाफ एकत्रित होकर संगठित विरोध सीख रहे हैं। महीपसिंह जैसे खूंखार जमींदार के खिलाफ जगपतिया आसपास के गाँव से मजदूरों को इकट्ठा कर लेता है और खेत पर दीवार बन कर गड़ासा लेकर जान हथेली पर रख कर विरोध करता है और अन्त में जीत भी उसी की होती है। जमींदार महीपसिंह टूट कर रह जाते हैं। गुरुदीन और जगपतिया जैसे मजदूरों की शक्ति और सीमाओं को देखकर ही तो सतीश को इस सच्चाई का अहसास होता है—"मगर कहीं गाँव बन भी रहा है, वह किसानों और मजदूरों का।"[2]

नगर-बोध का अकेलापन, भौतिकता, स्वार्थवादिता, दलबन्दी, फैशन, शिक्षा और विषैली राजनीति आदि सभी कुछ गाँवों में धीरे-धीरे पहुँच रहे हैं और गाँव अपने अस्तित्व-विनाश को दिनोदिन देख रहे हैं। रोजी-रोटी की तलाश में जहाँ गाँवों का निम्न वर्ग शहरों की ओर दौड़ रहा है, वहाँ अन्यान्य सामाजिक कारणों से उच्च-वर्ग भी उधर आकृष्ट होता है। गाँवों में घुसते नगर की प्रतिक्रिया अमलेश तिवारी के मन में साफ है और उनकी दृष्टि में, "दुनिया का रंग-ढंग बिगड़ता जा रहा है। एक जमाना हमारा था कि लोग गाँव की इज्जत के लिए सामूहिक ढंग से लड़ते थे। आज तो दूसरों की इज्जत लूटने के लिए लोग बाहर का सहारा लेते हैं। पहले के भले-बुरे काम जो भी थे साफ थे, मगर आज के लोग क्या हैं समझ में नहीं आता। शहर का असर धीरे-धीरे गाँव को बदजात कर रहा है और मुझे लगता है कि ये गाँव न शहर बन पाएँगे न गाँव रह जाएँगे'''शिक्षा की यदि कमी न होती तो गाँव स्वर्ग बन जाते।"[3] और तो और शहरी-सभ्यता का संक्रमण गाँवों के सांस्कृतिक मेलों में भी पहुँच गया है। वहाँ के सब रंग फीके पड़ गये हैं। देहातों के अंचल में पलने वाले बच्चे इन्हें गँवारू चीज समझते हैं। और इनमें शरीक होने के स्थान पर घर पर बने रहना ही उचित समझते हैं। और तो और पड़ोसियों के शादी-ब्याह के अवसर

---

१. जल टूटता हुआ, पृ० २३१।
२. वही, पृ० २३१।
३. वही, पृ० १०७।

या अन्य सामाजिक उत्सवों पर भी उनमें कोई उमंग नही होती, न वे जी खोलकर गा पाते हैं, न हँस पाते हैं, न किसी से मिल पाते हैं, इन्हे फालतू चीज समझ अपने काम-से-काम रखते हैं। सतीश इस बदलाव को बहुत सही ढंग से पहचानता है।

प्रस्तुत उपन्यास, जिसकी मुख्य प्रकृति बिम्बात्मक है तथा जिसके अन्तर्गत अनेक बातें व्यग्यों, ध्वनियों और बिम्बों के माध्यम से कही गई हैं, ग्राम यथार्थ की संवादिता मे शिल्प की नवीन सम्भावनाओं का संधान करता है। विभिन्न स्थितियों का अंकन बिम्बों के माध्यम से कर लेखक ने अंचल की और व्यक्ति की संश्लिष्ट संवेदनाओं की अभिव्यक्ति-हेतु अवचेतन की भाषा का आविष्कार न कर जनपद की बोलियों का प्रश्रय लिया है, ताकि ग्राम-गंधी परिवेश अपनी सम्पूर्णता लिए कृति में उपस्थित हो। बघारांचल में प्रचलित शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों एवं लोकगीतों के माध्यम से यथार्थ के नये आयामों को उद्घाटित कर, भाषायी स्तर पर भी लेखक ने अद्भुत योगदान दिया है। और तो और 'जल टूटता हुआ' नाम मे भी भाषा-प्रयोग है जिसमे ध्वनि, गति और रंग तीनो हैं। सारा उपन्यास भाषिक प्रयोगो से, बिम्बो की वर्तुल छायाओं से व्याप्त है जिसमें विभिन्न ध्वनियाँ, मिट्टी की सोंधी गंध, भूखण्डों की प्राकृतिक बनावट, खेतों, खलिहानो की रंगत और मौसमी हवाओं के झोके, प्रकृति के कोप-कार्य एवं भयावह क्रूर स्थितियों के अंकन आदि हैं। लड़कों की गंदी-देह पर बरबस हँसते हुए चेहरों का टंगना, मकान के भीतर से फूट-फूटकर स्मृतियों का बहना, नंगी धरती का किसानो द्वारा चीरा जाना, स्मृतियों के भीतर तरह-तरह के शोर का बज-बजकर सो जाना, जमींदार का टूटना और उजड़ना, चेहरों का अधकार से पुतना, भूख का लोटना, मन के दर्द का तैरना एवं गीतों का बिखरना आदि असंख्य प्रयोग हैं जो हमे प्रयोक्ता की भाषा-विषयक गतिशीलता का परिचय देते है, भले ही व्याकरणाचार्य पंडितों की समझ मे जल का टूटना देर मे आता हो। विचारो की जटिल प्रक्रिया के आरोहो, अवरोहो में फँसे मास्टर सुगन आजादी और बाढ की स्थिति पर सोच रहे है और कुछ निष्कर्ष पर न पहुँच कर विचार-सरणियों मे भटकते है, कुछ न करते बनता है, न कहते। इसी का एक शब्द-चित्र है जो भाषिक रचाव एव बिम्बात्मकता का अद्भुत उदाहरण है—"मास्टर को लगा जैसे वह कुछ स्पष्ट नही हो पा रहा है। उसके भीतर दो धाराएँ एक-दूसरे को काटती हुई बही जा रही है, लगता है वह कही बहुत गहरे उलझ गया है, बिखर गया है अपने ही भीतर। वह अपने को समेट नही पा रहा है।"[1]

बिम्बात्मक अनिवार्यता को लेखक ने स्वयं एक भेंट-वार्ता मे स्वीकार करते हुए कहा कि इन बिम्बो को लांघ कर, कथा की स्थूल डोर पकड कर भी चला जा सकता है, किन्तु तब उपन्यास की अनेक अंतर्कथाओं, मानसिक यात्राओं की दुनिया के जटिल अनुभवो से कट कर केवल बाहरी घटनाओ के सुखों और दुखों की प्रतीति

---

१. जल टूटता हुआ, पृ० १३।

पाई जा सकती है। अतः बिम्ब-विवेचन-प्रक्रिया कृति के सफल मूल्यांकन में अत्यन्त आवश्यक है। जीवन-मूल्यों के अवमूल्यन, सांस्कृतिक परम्पराओं के विघटन, सामूहिक जिन्दगी की टूटन का कितना मर्मस्पर्शी और विराट् चित्र अंकित हो उठा है जब सतीश अपनी चोट के दर्द का हाल बताते हुए गंवई जिन्दगी के दर्द से तड़प उठता है और जग्गू से कहता है, "हाँ टूट रहा है यहाँ का जल, टूट रहा है। धारा धारा से बिछुड़ रही है, लहरें लहरों से टूट रही हैं, बाँध बंध रहे हैं लेकिन पोख्ता नहीं, जो जल को समत कर एक दिशा में प्रवाहित करें और उनमें से शक्ति उजागर करें, बाँध जगह-जगह दरक रहे हैं और जल टूट रहा है, टूट रहा है।"[1] ऊपर से सीधे से वाक्य-समूह में तीखी अर्थ-व्यंजना है। एक-एक शब्द गँवई जीवन के विराट् सत्य को उद्घाटित करता हुआ उसके संश्लिष्ट चित्र में रंग भरता है। जल प्रतीक है जीवन का। जल का बाढ़ के रूप में उफनना, धाराओं में अलग-अलग बहना, कभी दिशा बदल कर बहना, कभी चक्कर काटना, तो कभी समानान्तर बहना, जटिल जीवन के संकेत-चित्र हैं, जिनमें गँवई जीवन का अनकहा सत्य विद्यमान है क्योंकि बाँध, बँध कर भी दरक रहे हैं और जल को संयत न कर शक्ति उजागर करने में असमर्थ हैं। पश्चिमी शिल्प की नवीन विधा 'फैंटेसी' का प्रयोग भी देखते बनता है जब सतीश के मन में लुटते गहनों और शहर के चौधरी के बढ़ते पेट की छाया उभरती है—"चौधरी की वीभत्स आकृति सतीश की आँखों के सामने खड़ी हो गयी। सतीश ने बढ़कर उसके पेट पर जोर से लात मारी और हुँकार उठा—'कमीने ! तू अभी भी जिन्दा है, आजादी मिलने के बाद भी।' चौधरी पेट पर हाथ फेरता हुआ हंसा—'मारो, और मारो। यह पेट तो तुम्हारा ही है, तुम्हारे गहनों से भरा हुआ है, यह चोट मुझे नहीं तुम्हारे गहनों को लग रही है। आजादी से क्या होता-जाता है, मैं अपनी जगह पर बदस्तूर कायम हूँ और मुझे ही क्यों देखते हो, तुम्हारे नेताओं में भी तरह-तरह के चौधरी निकल आये हैं।"[2] गँवई जिन्दगी की आन्तरिक रिक्तता, बढ़ती शहरी समृद्धि, बिगड़ते मूल्य, उसमें से उभरती चेतना एवं नये चौधरियों का नेताओं के रूप में पैदा होना समय की नियति पर करारा व्यंग्य है।

ग्राम-गंधी परिवेश के नये-नये उपमान नये भाषिक-रचाव के साथ प्रयोग में लाये गये हैं, जैसे—हवा बह गई, जोर से धान के बिरवे कुनकुना उठे, जैसे कोमल स्पर्श से किसी बछड़े के रोयें। बाढ़ की ऊँची-ऊँची लहरों का विशाल अजगर की भाँति ऊपर उड़ती फतिंगी को निगलना, जल से भरे हुए छोटे-छोटे गड्ढों की तरह अनेक आँखों का उभरना, साँप की दोनों कनपटियों पर मन्त्र की कौड़ियों की भाँति आँखों का अंग-अंग पर चिपकना आदि। काव्यात्मकता, आलंकारिकता एवं नयी औपन्यासिक

---

१. जल टूटता हुआ, पृ० ४७२

२. वही, पृ० १०१

संरचना का छोटा-सा प्रयोग गहराई में कितना व्यंग्यात्मक है जिससे ग्रामीण युवा सतीश की बेरोजगारी, उसकी दयनीय आर्थिक स्थिति तथा तद्जनित कुण्ठाओं का संवेदनात्मक परिचय मिलता है, वह "दरवाजे पर बैठा-बैठा अपने सामने बहते हुए सूनेपन को एकटक निरीह आँखों से देखता रहता है। सूनेपन की हर लहर जैसे उसकी आँखों के तट पर घोघा सेवार छोड़ जाती और उसका कुछ वहाँ से बहा ले जाती। हेमन्त की पीली-पीली बीमार धूप मानो उसके मन का विस्तार बनकर आसपास के पेड़ों और खपरैलों पर अलसाई रहती।"[1] "परिवेश की जीवन्तता जो स्वयं अपनी गाथा इस उपन्यास मे कहती है, लेखनी की अनन्त क्षमताओं की परिचायक है। प्राकृतिक भूखण्डो, दृश्यो, अन्त.प्रदेश की हलचलो एव गाँव की तमाम विसंगतियों के चित्र एक साथ बडी सहजता से प्रकट हुए हैं। मास्टर उमाकांत पाठक शाम को गाँव के खेतों पर घूमते हुए मन मे शिष्या शारदा की मधुर स्मृतियाँ छिपाये, तिवारी-पुर के अभावो की छाया से बच नही पाते और वे अभाव उन्हें अन्दर-ही-अन्दर मथ डालते हैं तथा समूचा परिवेश उनके समक्ष उपस्थित हो उठता है और वे देखते हैं, "इक्के-दुक्के लोग सिरों पर घास का बोझा लादे घरो को लौट रहे थे। धीरे-धीरे नमी से भीग कर खेत भारी होते जा रहे थे। लोगों के चेहरे पर शाम की आखिरी धूप डूब रही थी और उनसे उभर रहा था एक सूखा अंधकार, एक सन्नाटा, एक सुस्ती और अभावो की मार से घायल परिवार की बेबसी, कोलाहल, शाम की आखिरी धूप और ये घर लौटते हुए लोग, ये कितने अकेले लगते हैं, अलग-अलग रास्तो पर अलग ढंग से चलते हुए। लगता है, शाम की उदासी ने समूची धरती को निगल लिया है।"[2] कितना यथार्थ और गहरा चित्र है परिवेश का, जो अपने मे अनन्य प्रामाणिक जीवनानुभूतियों को समेटे है। ५७४ पृष्ठों के इस विशालकाय उपन्यास मे अनेकों छविमय, कुरूप एवं यथार्थवादी चित्र है जो इस उपन्यास की शक्ति हैं, और इसी शक्ति के बल पर इसे महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा जा सकता है। अनन्य पात्रों एवं जीवन-विसंगतियों वाला यह उपन्यास कही परिस्थितियो और मन.स्थितियो के आवर्तों मे लिपट कर बिम्बात्मक हो गया है, कही यह क्षिप्रगामी सन्दर्भ मे क्षिप्र वर्णनों का बहाव लिये हुए है, कही एक बिम्ब मे अनेक ध्वनियाँ उजागर होती हैं, तो कही अनेक ध्वनियों और रंगो से बिम्ब बने हैं और मानसिक ऊहापोह की अवस्था में बातो का दुहराव भी यदा-कदा परिलक्षित होता है। अभिव्यक्ति की अमित क्षमता से पूर्ण, जनपदीय जीवन के समर्थ शब्दों, मुहावरों, गीतों तथा प्रामाणिक अनुभूतियो से ओतप्रोत 'जल टूटता हुआ' उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन का वह प्रामाणिक 'डाकूमेंट है, जिसमें विभिन्न संगतियो, विसंगतियो के माध्यम से उभर रही ग्राम-चेतना का लेखा-जोखा यथार्थवादी धरातल पर प्रस्तुत किया गया है।

१. जल टूटता हुआ, पृ० ११२।
२. वही, पृ० २००।

सूखता हुआ तालाब :

रामदरश मिश्र

'सूखता हुआ तालाब' रामदरश मिश्र का चौथा उपन्यास है। 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में उत्तर प्रदेश का स्वाधीनतापूर्व का गाँव है और 'जल टूटता हुआ' में स्वाधीनता के बाद का जब कि 'बीच का समय' उपन्यास गुजरात के जीवन को लेकर चला है। 'सूखता हुआ तालाब' प्रथम दो उपन्यासों के क्रम में समकालीन ग्राम-जीवन के बदलते भाव-बोध को प्रस्तुत करता है जिसमें समय के दबाव के नये स्वरों एवं नये नाते-रिश्तों की परख और पहचान उभारी गई है। भ्रष्ट राजनीति, स्वार्थी घेरा-बन्दी, पदलोभी प्रवृत्ति, अनैतिक स्थितियाँ, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य-विघटन आदि विविध सन्दर्भ-बिन्दु हैं जिनके बीच से गुजर कर लेखक ने गाँव को उसके नये रूप में, नयी चुनौतियों के बीच पहचानने की कोशिश की है। यथार्थ की विविध भंगिमाओं को आंकने में लेखकीय दृष्टि सक्षम है। यथार्थ के विविध आयामों की बहुस्तरीयता यहाँ परिस्थितियों, सम्बन्धों, सम्वेदनाओं और मूल्यों के अन्तर्विरोधों के पारस्परिक संग्रंथन और संश्लिष्ट रचाव में द्योतित होती है। अन्तर्विरोधों के तनाव को पहचानते हुए यथार्थ को उसकी 'टोटेलिटी' में पकड़ लेना ही सही यथार्थवादी दृष्टि कहलाती है, जो यहाँ है। 'सूखता हुआ तालाब' में यथार्थ के इन अन्तर्विरोधों के तनाव की परख सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक सम्बन्धों और मूल्यों के स्तर पर तो है ही, वैयक्तिक स्तर पर भी है। क्या वर्गीय और क्या व्यक्तिगत दोनों प्रकार के अन्तर्विरोध और तनाव यहाँ कृति में रचपच कर उसकी आन्तरिकता से उद्‌भूत हुए हैं। चेनइया और देवप्रकाश दोनों के चरित्र इस सन्दर्भ में देखे जा सकते हैं। चेनइया शोषित वर्ग की होकर वर्गीय अंतर्विरोध उभारती है तो देवप्रकाश वैयक्तिक।

अन्तर्विरोधों की पहचान और विविध तनावों के तेवरों की परख में लेखकीय दृष्टि प्रगतिशीलता की हामी दृष्टिगत होती है। यह बात अलग है कि लेखक एक दल विशेष की नीतियों को प्रचारित करना अभीष्ट नहीं समझता। प्रगतिशीलता की पक्षधरता वह सपाट ढंग से, नारेबाजी से या उपन्यास में स्वयं उपस्थित होकर अपनी वक्तव्यबाजी से नहीं करता। वह उसे अन्तर्विरोधों से रचता है। व्यंग्यों से बनाता है। संकेतों, ध्वनियों और बिम्बों से गति प्रदान करता है।

एक बार नाता तोड़कर नौकरी के लिए शहर की ओर चल पड़ते हैं। गाँव की स्थिति आज यह हो गई है कि या तो वहाँ हिजड़ा रह सकता है या फिर बदमाश। गाँव की सामान्य-सी घटनाएँ भी राजनीति से परिचालित होती हैं—यही उपन्यास का मुख्य स्वर है। और तो और यौन-संबंधों की सामाजिक नैतिकता की नियन्ता भी राजनीति ही है, यह यहाँ भलीभाँति मुखरित है। ग्रामीण समाज में छोटी-बड़ी जातियों के पारस्परिक यौन-संबंधों में राजनीति कहीं तो सहज-स्वाभाविक शारीरिक आवश्यकता को नकारती है तो कहीं इसकी रक्षा करती है। वस्तुतः उपन्यासकार की दृष्टि में राजनीति दुष्ट गिरोह की कूटनीति बन गई है जो सीधे-सरल हृदय वालों के लिए एक नागपाश है। देवप्रकाश का ग्राम-समाज में बहिष्कार होता है क्योंकि उनके छोटे भाई अवतार ने (जो कि विधुर थे) पड़ोसी गाँव की पासिन से प्यार किया था। जबकि शिवलाल, शामदेव, धर्मेन्द्र, दयाल, मोतीलाल आदि पर्दे के पीछे रोज वही सब कार्य करते हैं। गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत लूटना उनके लिए कोई घृणित कार्य नहीं और न ही कोई उनकी ओर आँख उठा सकता है, क्योंकि वे एक गुट से जुड़े हैं, जो ग्रामीण राजनीति का नियता है। बेशर्मी की हद तो उस समय दीखती है जब शिवलाल की लड़की को मास्टर धर्मेन्द्र का गर्भ रह जाता है लेकिन गुट के होने के नाते ही उसका लड़का रामलाल धर्मेन्द्र का पक्ष लेता है और अपनी बहिन के साथ हुए अवैध संबंधों को भी वैधता प्रदान करता है। गाँव की राजनीति के नियन्ता ठेकेदार शामदेव शिवलाल आदि शरीर की स्वाभाविक यौन-आवश्यकता को धर्म की सड़ांध से जोड़ अपना उल्लू सीधा करते हैं और नये-नये कुचक्रों का आये दिन सृजन करते रहते हैं—जैसे धर्मेन्द्र का गर्भ मढ़ देते हैं रवीन्द्र के सिर आदि।

गाँव की समूची सामाजिक जिन्दगी वस्तुतः राजनीति की विषाक्तता के कारण टूट रही है। सामूहिक जन-जीवन के टूटन का प्रतीक है—'रामी तालाब', जिस पर कभी कथा-वार्तायें होती थीं, धार्मिक अनुष्ठानों का समापन शोभा बढ़ाया करता था, लोग मनौतियाँ मानते थे, उसके पारदर्शी जल में स्नान किया करते थे। विशिष्ट सांस्कृतिक अवसरों पर अच्छी-खासी स्नानार्थियों की भीड़-भाड़ होती थी। लेकिन आज वही रामी तालाब दुर्गन्धयुक्त गन्दे पानी का तालाब है जिससे चारों ओर सड़ांध फैलती है। इस तालाब का सूखना गाँव के पुराने मूल्यों का चुकना है, कीचड़ के रूप में बचे हैं—अज्ञान और अंधविश्वास तथा सड़ांध का फैलना। यहाँ की जिन्दगी में उत्पन्न ईर्ष्या-द्वेष एवं पारस्परिक वैमनस्य का प्रतीक है। आज यह तालाब अपनी इयत्ता एवं सामूहिकता दोनों गँवा बैठा है और इस सार्वजनिक तालाब को भी एक-दो सरपना लोगों ने अपने नाम लिखवा लिया है तथा वे अपनी व्यावसायिक प्रवृत्तिवश आज इसके दोहन से मछलियों का कारोबार चलाते हैं। वस्तुतः रामी तालाब गाँव की टूटती जिन्दगी का प्रतीक बन गया है।

गाँव के प्रतिष्ठावान हों या बदनाम सभी किसी-न-किसी कुकृत्य से जुड़े दिखलाई पड़ते हैं और अन्दर-ही-अन्दर कैंचियाँ चलाते हैं तथा आदर्श एवं महानता

का चोगा पहनते हैं। गाँव के इन चेहरों को ही तो देखकर शंकर चिन्तित है और भविष्य की चिन्ता उसे मथती है कि, "क्या होगा गाँव का, जहाँ जड़ता इतनी कि एक बेवकूफ आदमी भी सोखा ओझा बनकर ठग ले और जहाँ चालाकी इतनी कि हर आदमी अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को बेच खाये।"[1] यों तो गाँव में किसकी किससे छिपती है लेकिन उस वक्त बड़ा आनन्द आता है जब ज्योतिषी जी गाँव मे आकर एक-एक की बखिया उधेड़ते हैं और कलई खोलते हैं और सब अपनी अपनी सीवन बचाने के चक्कर में एक-दूसरे को नंगा करते दृष्टिगत होते हैं। भेद न खुलने की मनौतियाँ मानते हैं और देवी-देवताओं के साथ भी ब्लैकमेल करते हैं।

गाँव मे मोतीलाल जैसे नेता हैं, जिनका न कोई सिद्धान्त है और न व्यवहार। मिश्र जी ने बड़े ही कौशल से उस पर फबतियाँ कसी हैं। कही उसे हिजड़े की सज्ञा दी है तो कही उसे वस्तुस्थिति को न सभाल पाने के डर से भगोड़ा बनाया है। आज ऐसे ही नेता तो रह गये हैं जिनका नेतापन हमें कही नही पहुँचा पाता। उनके मंत्र केवल उनके अपने स्वार्थ हैं जिनके वशीभूत होकर उन्हे राग अलापने पड़ते हैं। मोतीलाल प्रगतिवादी विचारधारा का उन्नायक कामरेड बनता है लेकिन सारे उपन्यास में अन्याय के प्रति उसका एक वाक्य भी सुनाई नही पडता। सामाजिक अन्याय को देवप्रकाश बेचारा अकेले झेलता है, उसे वैचारिक सहारा तक नही देता। लेकिन जब गाँव मे छोटे भाई की विधवा बहू के साथ उसके अवैध सबंधो की चर्चा बहुत फैल जाती है तो वह बड़ी आसानी से एक और असत्य से समझौता कर लेता है। रातों-रात ओझा सोखा बुलाकर भूत भगवाता है, गाँव वालो की लल्लो-चप्पो करता है और उनको (गाँव के भ्रष्ट तथाकथित बड़बोलो को) दावत देता है। बड़ी ही अजीब किस्म का अजीब आदमी है। बिल्कुल गिरा हुआ। कतई अस्पष्ट। एक तरफ तो वासना को वैज्ञानिक आधार पर शरीर की आवश्यकता मानता है दूसरी ओर प्रायश्चित्त करता है। उसमें इतनी विचार-क्षमता नहीं है कि अपनी बात को अपने परिवार अथवा ग्राम-समाज मे मनवा सके। अत उसके चरित्र मे नपुंसकता, अस्पष्टता, स्वार्थवादिता एव छल-छद्म सभी नेतायी अदाज के हैं।

धार्मिक-अनुष्ठानो की स्थिति भी इस उपन्यास मे बडी निराली है, क्योंकि उनके मूल में आस्तिकता एव गहरी सवेदनशीलता का कोई तकाजा नही है। शिवनाथ हरिवश पुराण की कथा का आयोजन शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से नही करते अपितु खाली समय को काटने एवं अपने पुत्र की सन्तान-कामना से करते हैं। मजे की बात तो यह है कि पुराण-कथा में फिल्मी गीतों की तर्जें चलती हैं। कीर्तन मडली के कर्ता-धर्ता हैं धर्मेन्द्र मास्टर एव दयाल जैसे पापी जो कीर्तन प्रारभ करने से पहले अपने खेत मे गरीब चमार की बेटी चनदया की अस्मत लूटते हैं। कीर्तन मे हुई थोड़ी देरी को झूठे बहानों से छिपाते हैं। बात यहीं तक रहती तो भी ठीक, लेकिन पराकाष्ठा

1. रामदरश मिश्र : टूटता हुआ [illegible], पृ० ८२।

उस समय आती है जब प्रसाद बाँटते समय चेनइया के भाई का हाथ प्रसाद को छू जाता है तो बदले में धर्मेन्द्र कड़ाक से गाल पर तमाचा मारता है। इस घटना के रूपायन में लेखक की व्यंग्यात्मकता की लपेट में हमारी ढकोसलापूर्ण धार्मिक स्थिति, अस्पृश्यता एवं हमारा आन्तरिक सामाजिक यथार्थ सभी कुछ एक साथ आ जाता है।

गाँवों में हुए सांस्थानिक परिवर्तनों ने वहाँ की वैचारिकता एव मानसिकता मे नयी हिलोरें उत्पन्न की हैं। गाँव आज वे गाँव नही रहे हैं। लेखक का दर्द अनुभूति-जन्य है। न कही मानवता और न कोई मूल्य। बचा है केवल सुविधापरक समझौता। इन बदलते सन्दर्भों मे देवप्रकाश को अपने बेटे रवीन्द्र की बात ठीक लगती है कि इस गाँव में या तो नपुंसक जी सकते हैं या फिर बदमाश। पहले गाँव मे एक-दो चोर-उचक्के होते थे। अब सारा गाँव ही गया है। पहले दो-एक तरह की बदमाशियाँ होती थी अब तरह-तरह की होती हैं। देवप्रकाश अन्त मे मानसिक ऊहापोह मे फँसा अपने बेटे को अपने अन्दर-ही-अन्दर सबोधित कर कह रहा है, "तू बन जा, तुझे जो बनना हो। जीने के लिए जरूरी है—हाँ जरूरी है।'''जीने के लिए जीने की परिभाषा जैसे कोई एक आवाज भीतर से निकल कर फास रही है'''जीना'''क्या वह जीना नही है, जिसे वह सबके विरोध के बावजूद जी रहा है।'' क्या अपने वैशिष्ट्य को खोकर भीड़ मे खो जाना ही जीना है'''ओह कुछ भी समझ नही आ रहा है।"[१] विचारों के आरोह-अवरोह में फँसा देवप्रकाश अपने मूल्यवादी संस्कारो से लड़ता है। और तो और परिस्थितियों की जकड़ इतनी सघन हो जाती है कि गाँव के एकमात्र साथी जैराम भी अपनी भाभी के दबाव मे आकर अपने भाई के मृत्युभोज पर देवप्रकाश को निमंत्रित नही करते, क्योंकि वह बहिष्कृत है। देवप्रकाश इस घटना से और भी टूट उठता है।

अंत में नारायणपुर के दोस्त शकर को चुनाव मे सरपच बनवा कर चुनाव-स्थल से ही गाँव से सदा के लिए मुँह मोड़ स्टेशन की राह पकड़ लेता है, क्योंकि अब उसकी दृष्टि मे सत्य और न्याय के लिए उठती हुई आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज बनकर रह गई है। मार्ग मे झुटपुटे मे नदी के पास ही अपनी विवशताओं, अभावों और पापों की ममतामयी गठड़ी उठाये जाती हुई चेनइया मिली जो कि सदा के लिए गाँव से विदा हो रही थी। गाँव ने ही उस बेचारी को वेश्या तक बना दिया और गाँव का बोझा ही वह अपने गर्भ में ढो रही थी। कैसा बीहड़ हो गया है ग्रामीण परिवेश, जहाँ दूसरों के पापो के भेद बनाये रखने के लिए चमरौटी को चेनइया को अपने घर और गाँव से भी हाथ धोना पड़ा।

देवप्रकाश का अपने गाँव से वोट देने के लिए नारायणपुर जाना, वहाँ से न लौटना तथा यकायक वही से सीधे स्टेशन की राह पकड़ना और गाँव को सदा के लिए छोड़कर चल देना कुछ अटपटा, अयथार्थ और कुछ निराशाजन्य लगता तो है, लेकिन

---

१. रामदरश मिश्र : सूखता हुआ तालाब, पृ०

उस समय आती है जब प्रसाद बाँटते समय चेनइया के भाई का हाथ प्रसाद को छू जाता है तो बदले में धर्मेन्द्र कड़ाक से गाल पर तमाचा मारता है। इस घटना के स्थापन में लेखक की व्यंग्यात्मकता को लपेट में हमारी ढकोसलापूर्ण धार्मिक स्थिति, अस्पृश्यता एवं हमारा आन्तरिक सामाजिक यथार्थ सभी कुछ एक साथ आ जाता है।

गाँवों में हुए सांस्थानिक परिवर्तनों ने वहाँ की वैचारिकता एवं मानसिकता में नयी हिलोरें उत्पन्न की हैं। गाँव आज वे गाँव नहीं रहे हैं। लेखक का दर्द अनुभूति-जन्य है। न कहीं मानवता और न कोई मूल्य। बचा है केवल सुविधापरक समझौता। इन बदलते सन्दर्भों में देवप्रकाश को अपने बेटे रवीन्द्र की बात ठीक लगती है कि इस गाँव में या तो नपुंसक जी सकते हैं या फिर बदमाश। पहले गाँव में एक-दो चोर-उचक्के होते थे। अब सारा गाँव हो गया है। पहले दो-एक तरह की बदमाशियाँ होती थी अब तरह-तरह की होती हैं। देवप्रकाश अन्त में मानसिक ऊहापोह में फँसा अपने बेटे को अपने अन्दर-ही-अन्दर संबोधित कर कह रहा है, "तू बन जा, तुझे जो बनना हो। जीने के लिए जरूरी है—हाँ जरूरी है।'''जीने के लिए जीने की परिभाषा जैसे कोई एक आवाज भीतर से निकल कर फांस रही है'''जीना'''क्या वह जीना नहीं है, जिसे वह सबके विरोध के बावजूद जी रहा है।'' क्या अपने वैशिष्ट्य को खोकर भीड़ में खो जाना ही जीना है'''ओह कुछ भी समझ नहीं आ रहा है।"[1] विचारों के आरोह-अवरोह में फँसा देवप्रकाश अपने मूल्यवादी संस्कारों से लड़ता है। और तो और परिस्थितियों की जकड़ इतनी सघन हो जाती है कि गाँव के एकमात्र साथी जैराम भी अपनी भाभी के दबाव में आकर अपने भाई के मृत्युभोज पर देवप्रकाश को निमंत्रित नहीं करते, क्योंकि वह बहिष्कृत है। देवप्रकाश इस घटना से और भी टूट उठता है।

अंत में नारायणपुर के दोस्त शंकर को चुनाव में सरपंच बनवा कर चुनाव-स्थल से ही गाँव से सदा के लिए मुँह मोड़ स्टेशन की राह पकड़ लेता है, क्योंकि अब उसकी दृष्टि में सत्य और न्याय के लिए उठती हुई आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गई है। मार्ग में झुटपुटे में नदी के पास ही अपनी विवशताओं, अभावों और पापों की ममतामयी गठड़ी उठाये जाती हुई चेनइया मिली जो कि सदा के लिए गाँव से विदा हो रही थी। गाँव ने ही उस बेचारी को वेश्या तक बना दिया और गाँव का बोझा ही वह अपने गर्भ में ढो रही थी। कैसा बीहड़ हो गया है ग्रामीण परिवेश, जहाँ दूसरों के पापों के भेद बनाये रखने के लिए चमरौटी की चेनइया को अपने घर और गाँव से भी हाथ धोना पड़ा।

देवप्रकाश का अपने गाँव से वोट देने के लिए नारायणपुर जाना, वहाँ से न लौटना तथा यकायक वहीं से सीधे स्टेशन की राह पकड़ना और गाँव को सदा के लिए छोड़कर चल देना कुछ अटपटा, अयथार्थ और कुछ निराशाजन्य लगता तो है, लेकिन

---

१. रामदरश मिश्र : सूखता हुआ तालाब, पृ०.

मानसिक ऊहापोह के क्षणों मे इस प्रकार के क्षणिक निर्णय भी व्यक्ति लेता है और ऐसे ही निर्णय के कारण तो देवप्रकाश गाँव मे आया था जब उसने शहर मे नौकरी पर स्टेशन मास्टर को पीटा था। अतः देवप्रकाश का निर्णय अवास्तविक न होकर टूटनजन्य वास्तविकता है जिससे इन्कार नही किया जा सकता जिसमे मानवीयता का गहरा सस्पर्श है। और फिर संघर्ष मात्र सतह पर दीखने वाला ही तो नही होता उसका आन्तरिक स्वरूप भी होता है। गांव के भोज-भात के अवसरो पर, हरिवंश पुराण कथा के सन्दर्भ मे, चुनावी प्रसग मे, अपने बेटे रवीन्द्र पर झूठे आरोप के सिलसिले मे वह कितना अन्तर्विरोध सहता है, कितने तनाव झेलता है इसे पाठक ही जानता है जब वह कृति से गुजरता है। देवप्रकाश का सघर्ष बडा मानवीय और आन्तरिक है। चेनदया के प्रसग मे भले ही शिकारपुर मे गरमागरम सघर्षशील नारे न उपजे हो लेकिन क्या गांव के अनेक सजातीय लोगों के सामने उसका भागना एक प्रश्नचिह्न नही लगाता, हमारे भ्रष्ट सामाजिक जीवन के प्रति घृणा और वितृष्णा नही उभारता, हमारे मन मे आक्रोश नही उत्पन्न करता। निश्चय ही एक अनुत्तरित प्रश्न गाँव के सामने जलता रह जाता है। रही बात सगठनात्मक विरोध की, वह किताबी तो हो सकता है, वास्तविक नही। आज कहाँ, किसे किसकी आग मे कूदने की फुर्सत है। सभी तो तेज दौड मे व्यस्त हैं। शहर से गाँव मे विरोध की सभावनाएँ अधिक हैं, क्योंकि वहाँ सबकी एक सामूहिक पहचान होती है। लेकिन बदलते हुए सन्दर्भों ने, नये सम्बन्ध-बोध और मूल्यबोध को विकसित किया है जिसमे भौतिकता की भी अपनी हिस्सेदारी है। औपन्यासिक अत बडा ही कलात्मक एव सूझ-बूझ वाला एव साकेतिक बन पड़ा है जो बहुत कुछ न कहकर उससे ज्यादा ध्वनित कर देता है।

अपने रूप बन्ध मे 'सूखता हुआ तालाब' आंचलिक उपन्यास है, लेकिन इसके वस्तु-संयोजन मे कथात्मक बिखराव के स्थान पर कसाव है। प्रतीकात्मकता इसकी अपनी एक उपलब्धि है। और तो और इसका नामकरण तक प्रतीकात्मक है। 'सूखता हुआ तालाब' गाँव की टूटती जिन्दगी का प्रतीक है। उपन्यास के चरित्र बड़े ही जीवन्त एव यथार्थ की धरती से लिए गए हैं। धर्मेन्द्र आदर्शवादी पाखण्डी, चरित्रहीन मास्टर है। मोतीलाल मुखौटेबाज कम्युनिस्ट नेता हैं जिनकी कथनी और करनी कभी समानान्तर नहीं चलती। अपने नौकर मुरतिया की पिटाई का पक्ष न लेकर उसके पिटने को ही सार्थक मानते हैं क्योंकि शिवलाल से टक्कर लेना उनके वश की बात नही। अपने छोटे भाई की बहू के साथ अनैतिक सम्बन्ध-निर्वाह करते हैं। उसके शरीर की बाइलोजिकल आवश्यकता मानकर और जब गाँव मे वितडावाद खड़ा होता है तो पूजा-पाठ और भोजभात से शान्त करते हैं। राजनीति में भी अपने जमीन के स्वार्थ से बँधकर अपने गाँव के दसनवरी शामदेव का समर्थन करते और करवाते हैं जबकि शकर तुलनात्मक दृष्टि से कहीं बढ़िया उम्मीदवार था। शामदेव, शिवलाल, रामलाल, जैराम थोड़े बहुत एक-सी कोटि के यथार्थ पात्र हैं। कोई काईयां है, कोई धूर्त, कोई चालबाज है तो कोई थोड़ा शरीफ। हैं गाँव की धरती के जाने-पहचाने से

पात्र। देवप्रकाश और चेनइया दोनो अपनी-अपनी अलग-अलग और थोडी विशिष्ट पहचान उभारते हैं। इन दोनो के रूपायन में लेखकीय द्विधा दृष्टिगत हो सकती है।

विविध प्रसंगों मे गुँथे हुए लोकगीतों का इस्तेमाल दुहरे और जटिल अर्थों के रूपायन के लिए हुआ है। लोकगीत केवल गांव की परम्पराओ से जुडकर मात्र उनका सास्कृतिक उद्घाटन नही करते अपितु नये सन्दर्भों मे उनके बदलते रूप की ओर इंगित कर पात्रो की मनःस्थितियों, सवेदनाओ एवं चेतना के नये आवर्तों को खोलते हैं। खेतों मे काम करती चेनइया का गीत इस सदर्भ में द्रष्टव्य है। भाषा-शैली सार्थक एव प्रवाहपूर्ण तो है ही उसमें प्रयुक्त मुहावरे एवं लोकोक्तिया जनभाषा की प्रयोगशीलता को प्रतिपादित कर कथा को आन्तरिक दीप्ति प्रदान करते हैं। विभिन्न बिम्बो, प्रतीको, ध्वनियो, रंगों ने गांव की धरती की धड़कनो को एवं मिट्टी की सोधी गध को बखूबी पहचाना है तथा उपन्यास के लघु कलेवर में ग्राम-जीवन की एक और तस्वीर उभरकर आई है। कहा जा सकताहै कि 'सूखता हुआ तालाब' पाखण्डो और टूटते सम्बन्धो का अजीबो-गरीब सिलसिला है, जो खून के रिश्तो को पानी मे और पानी के रिश्तो को खून मे बदले जाने की कथा कहता है।

धरती धन न अपना :

जगदीश चन्द्र

'धरती धन न अपना' जगदीश चन्द्र का प्रथम उपन्यास है। बलवन्त सिंह के 'दो अकाल गढ' के पश्चात् पजाबी अचल को लेकर लिखे जाने वाला यह हिन्दी का शायद दूसरा उपन्यास है। पजाब के शिवालिक घाटी मे होशियारपुर जिले मे स्थित घोडे-वाहा ग्राम के चमादडी मौहल्ले को केन्द्र मे रखकर लेखक ने अपने रचना-तंतुओं से दलित वर्ग की मानसिकता को अभिव्यक्ति देने का उपक्रम किया है। यद्यपि इस उपन्यास मे सारे गाँव की अच्छी-बुरी परछाइयाँ अपनी समग्रता मे नही उभरती लेकिन चमादडी मौहल्ले की एक-एक गली, एक-एक झोपडा, कच्चे घर, तकिया, मजार अपनी सारी गदगी और गलाजत के साथ प्रस्तुत हुए हैं। चमादड़ी मौहल्ले की कोई चीज अपनी नही है सब पर केवल मौरूसी है। लेखक ने अपने अतीत के स्मृति-कोष मे सजोई इन निर्मम सच्चाइयो को बखूबी उजागर किया है जिसमे अनुभव की प्रामाणिकता का सस्पर्श मिलता है। यथार्थ के प्रति प्रतिबद्ध लेखक ने अपने औपन्यासिक वक्तव्य 'मेरी ओर से' मे स्पष्ट किया है कि—"आर्थिक अभावो की चक्की में युग-युगान्तरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओ को भोग रहे हैं, जिस भूमि पर वे रहते थे, जिस जमीन को वे जोतते थे यहाँ तक कि जिन छप्परो मे वे रहते थे, कुछ भी उनका नही था। इन्ही बातो को देखकर मेरे किशोर मन की वेदना सहसा अपने सभी बाँध तोड़कर फूट निकली और मैंने उपेक्षित हरिजनो के जीवन का चित्रण करने का सकल्प कर लिया। प्रस्तुत उपन्यास लिखने का मूल प्रेरणा-बिन्दु यही है।"[1] जातिगत सस्कारो, सामाजिक मान्यताओ की कठोर जकड़नो, विविध कटुताओ से घिरी इस अभिशप्त जिन्दगी की व्यथा-कथा कहने मे लेखकीय दृष्टि बड़ी निस्संग एव बेलाग रही है। न उसे दल के विशिष्ट नारो के प्रति झुकाव है और न कुछ अर्थहीन फतवो से। लेखक यातनाओ के बीच से घिसटती *नारकीय जिन्दगी को ज्यो-की-त्यो अभिव्यक्त करता है।*

'धरती धन न अपना' का कथाफलक अत्यन्त संक्षिप्त एव सपाट है। घटनाओ, प्रसंगो, अवतरणो एवं लोक-कथाओं आदि का सश्लिष्ट रचाव नही है और न आँचलिक उपन्यासों जैसा बिखराव। कथा सीधे-सपाट ढग से काली और ज्ञानो

१. जगदीशचन्द्र : धरती धन न अपना, पृ० ८।

दोनों घाटों के बीच तेजी से बहती है। इसका प्रारम्भ और अन्त काली है। उपन्यास के प्रारम्भ में छः साल पूर्व दो दिन का भूखा-प्यासा, फटे-हाल घर से चोरी से शहर भागने वाला काली अपने गाँव वापस लौटता है। गाँव का दुखियारा गाँव में घुसते ही यातनाओं का नंगा नाच फिर देखता है। जीतू की चौधरी हरनामसिंह द्वारा निर्मम पिटाई देख हिल उठता है। कारणों को जानने की कोशिश करता है और जब उसे पता चलता है कि चौधरी ने उसे बेवजह पीटा है तो अन्दर-ही-अन्दर कसमसाकर रह जाता है। जीतू की यथासंभव सेवा करता है। शहर कानपुर से बचाकर लाये रुपयों से पक्का मकान बनाना प्रारम्भ करता है। और इस पक्के मकान के कारण अपनी हेठी सोच मंगू चमार (ज्ञानो का भाई) जो चौधरी हरनामसिंह का नौकर है उसका बेमतलब दुश्मन बन जाता है। बात-बात में कदम-कदम पर कभी मिट्टी खोदते समय, कभी तकिया में सोते समय तो कभी कहीं किसी अन्य बहाने से लड़ता है, पिटता है। एक-दो अवसरों पर झूठी चुगली कर काली को हरनामसिंह से डाँट दिलवा देता है। गाँव में चो (नदी) बाढ़ के समय काली जान पर खेलकर बाँध तोड़कर गाँव और फसल की रक्षा करता है। जब बाँध को पूरा पाटने का सवाल उठता है तो चमार लोग अपने ध्याड़ी के पैसे माँगते हैं, काली उनका नेतृत्व करता है, बायकाट चलता है, चमार फाके काटते हैं और जब दोनों पक्ष परेशान हो जाते हैं तो चौधरी लोग बड़े नाटकीय ढंग से समझौता कर लेते हैं। काली की चाची मर जाती है, पैसा चोरी हो जाता है और वह फिर घसियारा बन जाता है। वह लालू पहलवान की हवेली में नौकरी कर लेता है। इसी बीच मंगू की बहन ज्ञानो से उसका प्रेम चलता है, ज्ञानो और काली की खूब फजीहत होती है, गर्भ रह जाता है, काली मौहल्ले वालों से पिटता है, ईसाई बनने की सोचता है, ज्ञानो को लेकर भागने की सोचता है लेकिन ज्ञानो की माँ उसे जहर दे देती है और वह मर जाती है। काली, ज्ञानो की माँ की चीख सुन सदा के लिए गाँव छोड़ जाता है जिसके विषय में गाड़ी से कटकर अथवा कुएं में कूदकर मर जाने की अटकलें लगाई जाती हैं, लेकिन निश्चित कुछ नहीं। यातनाओं, आपदाओं, संघर्षों, मजबूरियों, विवशताओं और दुख-दर्दों की छाया सारे कथानक पर फैली हुई है।[3]

क्या वैयक्तिक और क्या सामाजिक दोनों छोरों पर काली संघर्ष में असफल रहता है। ज्ञानो जैसी प्रखर एवं मुखर प्रेमिका पाकर काली के चरित्र में विकास की संभावनायें थीं लेकिन लेखक ने उसे पराजित मनोवृत्ति का नायकत्व ही प्रदान किया है। गाँव में जब संघर्ष का रंग जोरों पर था काली हमें टूटता दृष्टिगत होता है। कभी वह लालू पहलवान से जाकर मदद माँगता है तो कभी पादरी अचिन्तराम से, कभी डाक्टर बिशनदास से तो कभी कामरेड टहलसिंह से। गाँव के इस संघर्ष में चमारों की नाक तो भगवान् भरोसे बच जाती है, क्योंकि समझौते का प्रस्ताव चौधरी वर्ग की ओर से हो जाता है; लेकिन कुछ भी हो कामरेड बिशनदास और कामरेड टहलसिंह के किताबी वर्ग-संघर्ष की पोल खूब खुलती है। डाक्टर बिशनदास जो देश

में क्रान्ति का ठेकेदार बनता है अपने घर में घरवाली के समक्ष भीगी बिल्ली बना नजर आता है। उसका यही चरित्र हमें सर्वत्र संघर्ष के दौरान दिखाई पड़ता है। वह खुलकर गाँव में चमारों का पक्षधर न बन, चौधरियों की तरफ बैठकों में हिस्सा लेता है, काली से खुले में बातचीत तक नहीं कर पाता और तो और यदि छुपकर मदद करना ही उसकी स्ट्रेटेजी थी तो छुपकर काली को अनाज तो दे सकता था, लेकिन वह वहाँ भी अपने वर्ग का ही हित सम्पादन करता है। काली का उससे गिला जायज है, "मुझे उम्मीद थी कि डाक्टर हमारी कुछ मदद करेगा। वह रोज कहता है कि वह गरीबों के पक्ष में है। उससे अनाज माँगा तो उसने जवाब दिया कि वह हमारे हक में जलसा करेगा। वह बहुत लम्बी-चौड़ी बातें करता है जो मेरी समझ में नही आती।"[1] और तो और वह कोई जलसा भी नही करता। साथी टहलसिंह की तो बात ही क्या है? उन्हे चमारों पर कतई भरोसा नही। वे तो डाक्टर से कहते हैं कि इनकी अकड़ और रोष मिनटों में झाग की तरह बैठ जाते हैं। डाक्टर बिशनदास के कहने पर भी उसकी पोंगापंथी की रट वही है कि, "कामरेड, चमारों को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। इन लोगों में जद्दोजहद करने का दमखम नही है। जोरावर तबके के साथ हस्त पंजा लेने के लिए बहुत हौसला चाहिए।"[2] वर्ग-संघर्ष के ये दोनों कठ-मुल्ले मात्र किताबी हैं, चमादडी की जरा सी घटना को भारत की स्ट्रगल में बदलने का दिवास्वप्न तो देखते हैं लेकिन संघर्ष जारी रखने के लिए गरीब चमारों के लिए अनाज मुहैय्या करने के सवाल को दोनों हवा में उड़ा देते हैं।

चमादड़ी मौहल्ले में पारस्परिकता, साहचर्य या सुख-दुख में मदद की भावना बहुत ऊपरी है। यहाँ गरीबी, मजबूरी, फटेहाली, विवशता, नाते-रिश्तों को तोड़ती है। कुछ रुपया ऐंठने का इच्छुक निक्कू मंगू के कहने में आकर काली के घर की नींव नही खुदने देता और आखिरकार माथे में चोट खाता है। ताई निहाली हो या प्रीतो, प्रसिन्नी हो या जस्सो सभी मुँह पर कुछ और पीछे कुछ। काली की चाची की मृत्यु पर स्वार्थवश सब काली पर प्यार जताती हैं। और जब उसका माल-मता हाथ लग जाता है तो वही काली मुहल्ले का बदमाश गिना जाता है और ज्ञानो के प्रेम-प्रसंग में गिरे से गिरा आदमी भी उसे पीट लेता है। जीतू और छज्जूशाह सब धोखा देते हैं। घड़ूडम चौधरी की तो बात ही निराली है। वह तो एक मजेदार पात्र के रूप में प्रस्तुत हुआ है। कानून कचहरी के इस शौकीन का तो झूठी-सच्ची गवाही ही पेशा थी। ज्ञानो का चरित्र बड़ा संघर्षशील और सच्ची प्रेमिका का चरित्र है जो मार खाकर, बेइज्जती सहकर भी साथ नही छोडती और आखिर माँ के हाथों जहर की गोली तक खा जाती है। गाँव में लच्छो, पीतो, पाशो जैसी भी हैं जो कुछ पाने के लिए देह बेचती हैं। चमारनें जाटों द्वारा खूब भोगी जाती हैं। हाल सारे गाँव का खराब है। चोरी-जारी, निन्दा-चुगली बहुत बढ़ गई है। बाबे फत्तू भी मंगू जैसे भ्रष्ट

१ जगदीशचन्द्र : धरती धन न अपना, पृ० २६७।
२ वही, पृ० २८०।

लोगों से दुखी हैं। वह ठीक ही तो कहता है कि, "इस मुहल्ले में शराफत नहीं रही।..." यहाँ अब लुच्चा-गुंडा चौधरी और गुंडी औरत प्रधान हैं।"[1] बावे फत्ते एवं ताया बसंता में वर्गीय समझदारी एवं सामाजिक चेतना के तत्व हैं। वे शोषण और उत्पीडन के खिलाफ उभरती रोशनी काली का यथासंभव साथ देते हैं। गाँव से चेहरे भी दोहरे हैं—पंडित संतराम कर्मकाण्डी पंडित ऊपर से और कामुक चरित्र भीतर से, पादरी चिन्तराम मुखौटेबाज ईसाई है जो समय आने पर काली और ज्ञानो को ईसाई बनाने में हिचकता है। छज्जूशाह हो या भुल्लेशाह, चौधरी हरनामसिंह हो या कोई और सभी कहीं-न-कहीं मूल्यों से टूट अंधेरे में भटकते से दृष्टिगत होते हैं। यही चमादड़ी मोहल्ले की वास्तविकता है।

चमादड़ी के लोक-चित्त की पहचान उभारने में भी लेखक को आशातीत सफलता मिली है। काली की चाची काली के लौटने पर घोड़ियाँ-लोकगीत गवाती है, शुभ शकुन के लिए शक्कर बाँटती है। इस खुशी के अवसर पर स्त्रियाँ आपस में भद्दे-भद्दे हँसी-मजाक करती हैं। चौक मैदान में कबड्डी और कुश्ती का दृश्य, भूत-प्रेत की झाड़-फूँक, बाढ़ रोकने के लिए ख्वाजा को बकरे की बलि आदि चढ़ाना वहाँ के अंधविश्वास और लोकचेतना को प्रतिपादित करते हैं। मिस्त्री संतासिंह, दीनू कुम्हार, बाजीगर राडे आदि ऐसे पात्र हैं जो अपने क्रिया-व्यवहारों से स्थानीयता की गहरी लकीरें खींचते हैं। प्राकृतिक परिवेश के चित्र यद्यपि गहरे नहीं हैं और न ही वे पात्र-विशेष की मन:स्थितियों आदि से जुड़कर आये हैं लेकिन फिर भी उनमें सर्जनात्मकता के दर्शन होते हैं। स्थानीय उत्सव-त्योहार की रंगत यद्यपि फीकी है।

शुरू से अंत तक विवशता और यातना के दुःख-दर्दों से उपजे द्वन्द्व और संघर्ष की कथा कहने वाले इस उपन्यास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि लेखक ने द्वन्द्वात्मक चेतना की आन्तरिक पर्तों को सामाजिक यथार्थ के अनुरूप रूपायित किया है। और इस रूपायन में भले ही निराशा और पराजयबोध दिखाई देता हो, लेकिन वह मात्र ऊपरी सतही चीज है। अंदर-अंदर विवशता, प्रताड़ना, मजबूरियों एवं शोषण ने दलित वर्ग में जो चिंगारी फूँकी है वह कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं। क्रान्ति एक दिन में नहीं होती, वड़बोलेपन से नहीं होती, एक पीढ़ी से नहीं होती और न एक दिन में होती है, उसकी तो आग भीतर-भीतर सुलगती रहती है और फिर एक दिन धधक उठती है। न जाने कितने काली-ज्ञानो, जीतू, बावे फत्ते और ताये बसंते जैसे लोग उसमें समा जाते हैं। मंगू जैसे अनेक राह के रोड़ों (व्यवस्था के एजेन्टों) से टकराना पड़ता है, चौधरी हरनामसिंह और घड़म चौधरी जैसे चौधरियों की चौधराहट को तोड़ना पड़ता है तथा फिर भी क्रान्ति का कोई चेहरा स्पष्ट नहीं होता। फार्मूला-बद्ध क्रान्ति का शंखवादन का साहित्य में तात्कालिक प्रभाव भले ही पड़ जाता हो लेकिन वह प्रभाव दूरगामी और गहरा नहीं हो पाता, इसे जगदीशचन्द्र जी ने भली-भाँति जाना है। अभावजन्य यथार्थ ही क्रान्ति-बीज है जिसे लेखक ने पहचान कर

---

१. जगदीशचन्द्र : धरती धन न अपना, पृ० ६६।

कृति में बोया है। अतः उन्होंने प्रगतिशील चेतना को भीतर की पीड़ा से उभारने का संकल्प किया है—जो बाहरी कम और भीतरी अधिक है? नागार्जुन या भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यासों-जैसी आक्रोशजन्य ऊपरी दमघट प्रचारात्मकता इसमें नहीं है। इसका नायक कदम-कदम पर संघर्षों के बीच से गुजरता है। काली की स्थिति बहुत कुछ रामदरश मिश्र के 'सूखता हुआ तालाब' में देवनारायण जैसी है जो गाँव में अकेला पड़ जाता है और अंत में गाँव को सदा के लिए छोड़ जाता है। देवनारायण का गाँव छोड़कर जाना या काली का यकायक गाँव से गायब हो जाना पाठक के मन में ऊपरी आक्रोश भले ही निर्मित न करता हो, पाठक की चेतना को गहरे झकझोरता है।

'धरती धन न अपना' उपन्यास अपने गठबंध में प्रेमचन्द की परम्परा से थोड़ा आगे और आंचलिक उपन्यासों से थोड़ा अलगाव-सा रखता है। उसमें वर्णनात्मक स्फीति है, संश्लिष्टता नहीं। कथा में एकतानता है, बहाव है बिखराव नहीं। काली का मकान-निर्माण प्रसंग और ज्ञानो का प्रेम-प्रसंग दोनों सधे, उबाऊ तथा अटपटे हैं। औपन्यासिक रचनात्मक में रच-पच नहीं पाये हैं। सपाट शैली वाले इस उपन्यास में न तो 'रेणु' जैसे फोटोग्रेफिकता चित्र हैं और न प्रतीक। ध्वनियों, रंगों और बिम्बों का रूपायन परिस्थितियों में ही हुआ है। पंजाबी लोक-जीवन की छवि, पात्रों के नामों में, उनकी बोली के लय और लहजों में, जन-प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों में तो दिखलाई पड़ती है एक-दो स्थल पर लोकगीतों की धुनें भी सुनाई पड़ती हैं। जो भी हो लेखकीय दृष्टि बड़ी ईमानदारी से अपनी वैचारिकता को रचनात्मक आयाम देने की ओर प्रयत्नशील रही है। यह बात अलग है कि चमादड़ी की मनोव्यथा, कुछ न कर पाने की काली की असमर्थता, ज्ञानो की असामयिक मौत, कामरेड बन्धुओं की हवाई घुड़-दौड़, काली का गाँव से लापता होना आदि संघर्षशीलता के टूटते स्वरूप की आन्तरिकता को उभार कर पाठक को अनेक प्रश्नों की अनुत्तरित यातनायें झेलने को मजबूर करता है।